

ज्ञानार्णव प्रवचन पञ्चम भाग

सहजानंद शास्त्रमाला

ज्ञानार्णव प्रवचन

पञ्चम भाग

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री  
पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी “सहजानन्द” महाराज

प्रकाशक

श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास गांधीनगर, इन्दौर

Online Version : 001

## प्रकाशकीय

प्रस्तुत पुस्तक 'ज्ञानार्णव प्रवचन पञ्चम भाग' अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी की सरल शब्दों व व्यवहारिक शैली में रचित पुस्तक है एवं सामान्य श्रोता/पाठक को शीघ्र ग्राह्य हो जाती है। श्री सहजानन्द शास्त्रमाला सदर मेरठ द्वारा पूज्य वर्णीजी के साहित्य प्रकाशन का गुरुतर कार्य किया गया है।

ये ग्रन्थ भविष्य में सदैव उपलब्ध रहें व नई पीढ़ी आधुनिकतम तकनीक (कम्प्यूटर आदि) के माध्यम से इसे पढ़ व समझ सके इस हेतु उक्त ग्रन्थ सहित पूज्य वर्णीजी के अन्य ग्रन्थों को <http://www.sahjanandvarnishashtra.org/> वेबसाइट पर रखा गया है। यदि कोई महानुभाव इस ग्रन्थ को पुनः प्रकाशित कराना चाहता है, तो वह यह कम्प्यूटर कॉपी प्राप्त करने हेतु संपर्क करे। इसी ग्रन्थ की PDF फाइल <http://is.gd/varniji> पर प्राप्त की जा सकती है।

इस कार्य को सम्पादित करने में श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास गांधीनगर इन्दौर का पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है। इस ग्रन्थ के प्रकाशन हेतु श्री सुरेशजी पांड्या, इन्दौर के हस्ते गुप्तदान रु. 2000/- प्राप्त हुए, तदर्थ हम इनके आभारी हैं। ग्रन्थ के टंकण कार्य में श्रीमती मनोरमाजी, गांधीनगर एवं प्रूफिंग करने हेतु श्रीमती अर्चना जैन, इन्दौर का सहयोग रहा है — हम इनके आभारी हैं।

सुधीजन इसे पढ़कर इसमें यदि कोई अशुद्धि रह गई हो तो हमें सूचित करे ताकि अगले संस्करण (वर्जन) में त्रुटि का परिमार्जन किया जा सके।

विनीत

विकास छाबड़ा

53, मल्हारगंज मेनरोड़

इन्दौर (म०प्र०)

Phone-0731-2410880, 9753414796

[Email-vikasnd@gmail.com](mailto:Email-vikasnd@gmail.com)

[www.jainkosh.org](http://www.jainkosh.org)

शान्तमूर्तिन्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी 'सहजानन्द' महाराज द्वारा रचित

## आत्मकीर्तन

हूँ स्वतंत्र निश्चल निष्काम। ज्ञाता दृष्टा आत्मराम॥टेक॥

मैं वह हूँ जो हैं भगवान, जो मैं हूँ वह हैं भगवान।  
अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यह राग वितान॥

मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान।  
किन्तु आशावश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान॥

सुख दुःख दाता कोई न आन, मोह राग रूप दुःख की खान।  
निज को निज पर को पर जान, फिर दुःख का नहीं लेश निदान॥

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम।  
राग त्यागि पहुँचू निजधाम, आकुलता का फिर क्या काम॥

होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जग का करता क्या काम।  
दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूँ अभिराम॥  
अहिंसा परमोधर्म

## आत्म रमण

में दर्शनज्ञानस्वरूपी हूँ, मैं सहजानन्दस्वरूपी हूँ॥टेक॥

हूँ ज्ञानमात्र परभावशून्य, हूँ सहज ज्ञानघन स्वयं पूर्ण।  
हूँ सत्य सहज आनन्दधाम, मैं दर्शन० ,मैं सहजानंद०॥१॥

हूँ खुद का ही कर्ता भोक्ता, पर मैं मेरा कुछ काम नहीं।  
पर का न प्रवेश न कार्य यहाँ, मैं दर्शन० ,मैं सहजा०॥२॥

आऊं उतरूं रम लूं निज में, निज की निज में दुविधा ही क्या।  
निज अनुभव रस से सहज तृप्त, मैं दर्शन० ,मैं सहजा०॥३॥

## Table of Contents

प्रकाशकीय .....	- 2 -
आत्मकीर्तन.....	- 3 -
आत्म रमण .....	- 4 -
श्लोक-245 .....	1
श्लोक-246 .....	3
श्लोक-247 .....	5
श्लोक-248 .....	6
श्लोक-249 .....	7
श्लोक-250 .....	8
श्लोक-251 .....	10
श्लोक-252 .....	12
श्लोक-253 .....	13
श्लोक-254 .....	17
श्लोक-255 .....	18
श्लोक-256 .....	19
श्लोक-257 .....	22
श्लोक-258 .....	23
श्लोक-259 .....	25
श्लोक-260 .....	27
श्लोक-261 .....	28
श्लोक-262 .....	29
श्लोक-263 .....	32
श्लोक-264 .....	33
श्लोक-265 .....	35
श्लोक-266 .....	37
श्लोक-267 .....	38
श्लोक-268 .....	39

श्लोक-269.....	41
श्लोक-270.....	43
श्लोक-271.....	44
श्लोक-272.....	44
श्लोक-273.....	45
श्लोक-274.....	49
श्लोक-275.....	50
श्लोक-276.....	51
श्लोक-277.....	54
श्लोक-278.....	55
श्लोक-279.....	57
श्लोक-280.....	58
श्लोक-281.....	60
श्लोक-282.....	60
श्लोक-283.....	63
श्लोक-284.....	65
श्लोक-285.....	67
श्लोक-286.....	68
श्लोक-287.....	73
श्लोक-288.....	75
श्लोक-289.....	76
श्लोक-290.....	77
श्लोक-291.....	79
श्लोक-292.....	80
श्लोक-293.....	83
श्लोक-294.....	85
श्लोक-295.....	86
श्लोक-296.....	87

श्लोक-297 .....	88
श्लोक-298 .....	90
श्लोक-299 .....	91
श्लोक-300 .....	91
श्लोक-301 .....	93
श्लोक-302 .....	95
श्लोक-303 .....	96
श्लोक-304 .....	97
श्लोक-305 .....	103
श्लोक-306 .....	103
श्लोक-307 .....	104
श्लोक-308 .....	105
श्लोक-309 .....	105
श्लोक-310 .....	108
श्लोक-311 .....	108
श्लोक-312 .....	109
श्लोक-313 .....	111
श्लोक-314 .....	112
श्लोक-315 .....	113
श्लोक-316 .....	114
श्लोक-317 .....	115
श्लोक-318 .....	115
श्लोक-319 .....	118
श्लोक-320 .....	119
श्लोक-321 .....	119
श्लोक-322 .....	120
श्लोक-323 .....	121
श्लोक-324 .....	122

श्लोक-325.....	123
श्लोक-326.....	124
श्लोक-327.....	124
श्लोक-328.....	125
श्लोक-329.....	126
श्लोक-330.....	127
श्लोक-331.....	128
श्लोक-332.....	129
श्लोक-333.....	129
श्लोक-334.....	130
श्लोक-335.....	130
श्लोक-336.....	130
श्लोक-337.....	132
श्लोक-338.....	133
श्लोक-339.....	133
श्लोक-340.....	133
श्लोक-341.....	134
श्लोक-342.....	135
श्लोक-343.....	136
श्लोक-344.....	136
श्लोक-345.....	137
श्लोक-346.....	140
श्लोक-347.....	141
श्लोक-348.....	143
श्लोक-349.....	145
श्लोक-350.....	147



## ज्ञानार्णव प्रवचन पञ्चम भाग

प्रवक्ता:-

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्यश्री 105 क्षुल्लक मनोहरजी वर्णी 'सहजानन्द' महाराज

### श्लोक-245

अस्मिन्ननादिसंसारे दुरन्ते सारवर्जिते।  
नरत्वमेव दु प्राप्यं गुणोपेतं शरीरिभिः॥245॥

**ध्यानपात्र नरत्व की दुष्प्राप्यता का वर्णन—** इस ग्रन्थ का मुख्य विषय है ध्यान। ध्यान के ही उद्यम के लिए बारह भावनाओं का वर्णन किया है। अब उस ही ध्यान के उद्यम के लिए उपदेश किया जा रहा है। हे आत्मन् ! देख इस अनादिकालीन संसार में अनेक गुणों करके सहित मनुष्यभव का मिलना अत्यन्त दुर्लभ है। यह समस्त संसार दुरन्त है, इसका परिपाक खोटा है। संसार की किसी भी स्थिति में किसी भी माया में बसने वाला पुरुष कभी निराकुल नहीं रह पाता। इसमें सार रंच भी नहीं है। ऐसे इस अनादिकालीन संसार में ऐसा गुणी मनुष्य बनना आसान बात नहीं है। संसार के जीवों पर दृष्टि दो तब पता पड़ेगा कि हम आप कितनी अच्छी संतोष के लायक स्थिति में हैं।

**मोही जीवों की तृष्णाविता का दुष्परिणाम—** अहो ! मोही जीव ऐसे दुर्लभ मनुष्यतन को पाकर भी सन्तोष नहीं करना चाहते। और इसी तृष्णा के कारण यह सारा मानवलोक दुःखी है। दुकानदार क्या, सर्विस वाले क्या, राष्ट्रपति क्या, सभी लोग इस तृष्णा में दुःखी हैं, और जरा संसारी जीवों पर निगाह डालकर देखो तो कैसा भी मनुष्य हो, किसी भी परिस्थिति में हो, थोड़ा विवेक चाहिए। वह सबसे अच्छा है। आखिर यह वैभव कहाँ तक काम देगा, और ये साथी लोग कहाँ तक काम देंगे। इसमें मोहपरिणाम का होना यह एक महती विपत्ति और विडम्बना है। अपना मोह अपने को ठीक जँचता है, गलत नहीं मालूम होता। किन्तु दूसरों पर निगाह डालकर देखा तो ऐसा लगता कि कैसा मूढ़ है, कैसा व्यर्थ का यह मोह कर रहा है। दूसरे की

बात जल्दी समझ में आ जाती है पर अपनी गलती, अपना मोह, अपना अपराध अपने को बड़ा योग्य जँचता है कि हम चतुराई का ही तो काम कर रहे हैं। इसी मोह के कारण से जीव की ये सांसारिक स्थितियाँ बन रही हैं। भला परमात्मा के सदृश आत्मस्वरूप वाला होकर भी यह आत्मा ऐसा कीड़ा, मकौड़ा, पेड़, पशु, पक्षी बनता रहता है। यह कितना बड़ा अंधेरा है, और इतना बड़ा दण्ड का मिलना यह किसी बड़े अपराध का ही कारण है। और यह वह बड़ा अपराध है क्या? परवस्तु में मोह परिणाम लाना। जिसे जो परिस्थिति मिली है उसे मोह करना बड़ा आसान लग रहा है। लेकिन वह आसान लगने वाला मोह कितना खोटा फल देगा इसका विचार नहीं कर रहा है यह जीव।

**इन्द्राभिलषित नरत्व—** हे आत्मन् ! अपने ध्यान को सम्हाल। देख जो तूने यह नर तन पाया है यह बहुत दुर्लभ तन है। इसे देव भी तरसते हैं, इन्द्र भी तरसते हैं। इन्द्र का शरीर हाड़-माँस रहित है। उसे भूख प्यास हजारों वर्ष में लगती है। पखवारों में वे श्वास लेते हैं। जो चाहें वे भोग उन्हें प्राप्त होते हैं। हजारों देवांगनाएँ बड़ी गुणवती और इन्द्राणी बहुत गुणसम्पन्न उन्हें प्राप्त होती है। कितना बड़ा सुख है संसार की दृष्टि में, और यह मनुष्य तन, हाड़, माँस, चाम वाला है, दुर्गन्धयुक्त और अनेक राग इसमें भरे हैं तिस पर भी इन्द्र इस नरदेह को चाहता है। ऐसी क्या खूबी है जिसमें इतनी गंदी चीजें भरी हैं इसे भी इन्द्र चाहता है। आखिर इसमें कोई न कोई खूबी तो होगी ही। वह खूबी है धर्मसाधन की पात्रता। मनुष्य तप, संयम, ज्ञान की उत्कृष्ट साधना कर सकता है, अनन्त काल के लिए संसार के संकटों से छूट जाना और अनन्त निराकुलता में मग्न रह सकना ऐसी सिद्धि स्थिति की प्राप्ति इस मनुष्यभव से ही की जा सकती है।

**इन्द्रसुख की चर्चा—** वह इन्द्रों का सुख कितने दिनों का सुख है, क्या सुख है, एक कल्पना की बात है। उस सुख में भी निरन्तर दुःख बसे हुए हैं। किसी की हुकूमत शतप्रतिशत चलती रहे यह बात असम्भव है। इन्द्र की आज्ञा यद्यपि उन देवों पर चलती है और जिसमें ऐसी ऋद्धियाँ हैं कि बड़ी से बड़ी आफतें, अशक्य काम भी क्षणमात्र में वे कर दिखायें ऐसी उन्हें हुकूमत है। तिस पर भी पूरी हुकूमत सब कोई मान लेते हों यह बात सम्भव नहीं है। अथवा कोई कुछ मान भी ले तो अपने ही विकल्पों को उत्पन्न करके कुछ न कुछ कमी महसूस करके दुःख माना जा सकता है। इन्द्रों के भी सुख नहीं है। इन्द्र की आज्ञा जितना वे कहते हों उतना ही निभा सकें यह भी पूर्ण सम्भव नहीं है। और मान लो आज्ञा को शतप्रतिशत भी निभा ले कोई तो आज्ञा देने वाला कल्पनाएँ करके कुछ कमी महसूस करने लगेगा, इसने यह बात पूर्णरूप से नहीं निभाई। यह तो अपनी कल्पना की बात है।

**इन्द्राभिलषित नरदेह के लाभ की सफलता का उपाय—** ऐसे कुछ एक मनुष्यों से विलक्षण सुख को पाने वाले इन्द्र हों वहाँ भी देखो तो मनुष्य की दृष्टि से अन्य तिर्यक् लोगों की दृष्टि से तो वे संसार के सुखों में बँधे चढ़े हैं, लेकिन वे भी इस मनुष्य जन्म को तरसते हैं। और यह भी सम्भव है कि हम आप किन्हीं देवगतियों से

आये हों और वहाँ यह बड़ी लालसा की हो कि हम भी मनुष्य बनें और मनुष्य बन गए हैं, अब वे सब बातें विस्मृत हो गई हैं जब यह अवसर आता है- तीर्थकर विरक्त हो रहे हैं, तीन लोक के इन्द्र जिनकी सेवा में हाजिर हो रहे हैं, इन सब दृश्यों को देखकर इन्द्र के मन में ऐसी उत्सुकता नहीं जगती होगी कि हम बड़े बेकार के भव में हैं। हम यदि ऐसे होते तो बड़ी शान्ति मिलती और यह पूज्यता मिलती। तो जिस मनुष्यभव को इन्द्र भी तरसते हैं ऐसे गुणसहित मनुष्यभव का पाना जीवों को जो अत्यन्त दुर्लभ है वह हम सबको प्राप्त है। तब क्या करना चाहिए? सो सुनिये।

### श्लोक-246

काकतीलीयकन्यायेनोपलब्धं यदि त्वया।

तत्तर्हि सफलं कार्यं कृत्वात्मन्यात्मनिश्चयम्॥246॥

**मनुष्यजन्म की दुर्लभता—** हे आत्मन् ! तूने यह मनुष्यपना काकतालीय न्याय से पाया है। काकतालीय न्याय का अर्थ है कि ताड़ वृक्ष के नीचे से कोई कौवा उड़ता जा रहा था और स्वयं उसके टूटते हुए ताड़फल को अपनी चोंच में ले लें। तो यह कितनी कठिन बात है। ऐसे ही समझ लो कि यह मनुष्यभव बड़ी कठिनाई से मिलता है। हम आपको मानव पर्याय मिली है। अब इसमें हम आपका एक ही कर्तव्य है। जो गुजरता हो सो गुजरे, सबमें प्रसन्न रहें। भली स्थिति हो अथवा बुरी स्थिति हो सबमें प्रसन्न रहें, सबमें समता रखें, सर्वत्र करने का काम केवल एक यही है कि अपने आत्मा में अपने स्वरूप का निश्चय करके अपने आपमें रमण करने का यत्न रखें। यद्यपि सम्यग्दर्शन 4 गतियों में उत्पन्न हो जाता है और सम्यक्त्व के होते ही अपने आत्मा के स्वरूप का निश्चय हो जाता है। पर जैसी एकाग्रता के साथ इस मनुष्यभव में अपने स्वरूप का विनिश्चय होता है ऐसा अन्य भव में नहीं होता। जैसे कि इन्द्र भी द्वादशांग के ज्ञाता होते हैं किन्तु जितने परिपूर्ण ज्ञाता और अंग बाह्य के भी परिज्ञाता साधु हो सकते हैं वह बात इन्द्र में नहीं पायी जा सकती। ये साधुजन श्रुतकेवली कहलाते हैं पर इन्द्र श्रुतकेवली नहीं कहलाता। इतना बड़ा आगम का ज्ञाता होकर भी इन्द्र श्रुतकेवली नहीं है, इससे भी एक अनुमान कर लो कि मनुष्य का मन ऐसा अनुपम विलक्षण है कि जैसा मन अन्य भव में नहीं है। इतनी दुर्लभ बात जब अपने आपको प्राप्त हुई है तब विषयभोगों के लिए अथवा बाह्य वैभव के संचय के लिए इतनी चिन्ता करना यह भली बात नहीं है।

**लोकेषणा व तृष्णा का अहितपना—** भैया ! जरा चलकर हर एक मनुष्य के पास पहुँचों और टटोलो सो सही—कोई कितना ही विशिष्ट वैभव वाला क्यों न हो पर उसे उस वैभव में सन्तोष नहीं है यह उससे ज्यादा चाहता है। अनेक पुरुष ऐसे हैं कि जिनकी स्थिति आज से पहिले कुछ न थी, अब उससे कई गुना अधिक

हो गई है लेकिन सन्तोष अब भी नहीं है। गुजारे की बात तो यह है कि जो आज स्थिति है उससे भी कई गुना कम हो तो वहाँ भी यह जीवित होगा। वहाँ भी यह अपना उद्योग बना लेगा। लेकिन तृष्णा एक ऐसी राक्षसी है कि कितना भी वैभव मिल जाय पर चैन नहीं लेने देती। तो यह मनुष्यभव पाया है, इसका यह सदुपयोग नहीं है कि उन मायामयी लोगों में अपनी प्रशंसा चाहने की कोशिश करें, बाहरी पदार्थों में दृष्टि अटक जाय यह हमारा कर्तव्य नहीं है। इस मनुष्य को जब कुछ सुध आती है जब कोई कठिन विपदा आये। पर उस समय भी यदि ज्ञान नहीं है तो निर्मोहता नहीं उत्पन्न होती। निर्मोहता तो तत्त्वज्ञान से ही होती है। जहाँ वस्तु का स्वतंत्ररूप दृष्टि में आया वहाँ निर्मोहता आ गयी। इसका यहाँ कुछ भी तो नहीं है। यह अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव में है। जब कुछ भी किसी अन्य वस्तु के अधीन नहीं है तो किसी भी पदार्थ का कोई दूसरा पदार्थ कुछ लगता है क्या? हे मुमुक्षु आत्मन् ! तुम दुनिया की प्रवृत्ति को निरखकर, दुनिया की प्रतिकूलता को देखकर क्यों विषाद करते हो? तुम ही खुद कल्पनाएँ उठाते हो और दुःखी होते हो। इसी तरह दुनिया कुछ तुम्हारे अनुकूल बने, कुछ हाँ में हाँ मिलाए, कुछ राग दिखाये तो उससे तुम हर्षमग्न क्यों हो जाते हो? उससे तुम्हें सिद्धि क्या मिलेगी?

**दुर्लभ नरदेह की सफलता का यत्न—** भैया ! अब इन बाह्यपदार्थों की आशा को त्याग कर अपने आत्मतत्त्व का ध्यान करें इस आत्मध्यान से सिद्धि प्राप्त होगी। परपदार्थों के ध्यान से सिद्धि तो प्राप्त क्या होगी, दुर्गतियाँ ही प्राप्त होगी। कोई पदार्थ रुचिकर बन गया है तो अब लग रहे उसके रुचने में। शान्ति क्या पा लेंगे? जो पुरुष अपने को अत्यन्त पर जानकर रंच भी मुझसे सम्बंधित नहीं है ऐसा प्रकट भिन्न जानकर, पर से उपेक्षा करके अपने आपमें रमण करने का यत्न करता है उसको मनुष्य जन्म सफल है अन्यथा करोड़ों मनुष्य लाखों मनुष्य तो आपके देखते-देखते भी गुजर गए होंगे और सैकड़ों तो आपकी आँखों के सामने गुजरे होंगे। जरा सोचो तो सही कि उन्हें क्या मिलेगा? अनुमान यह कहता है कि मिला क्या होगा, किसी अन्य योनियों में जन्म मरण कर रहे होंगे, भटक रहे होंगे। हाँ उनमें जो केवल आत्मप्रेमी होंगे, जिन्हें किन्हीं भी बाह्यपरिणामों से कोई क्षोभ न हुआ होगा और इसी कारण अपने इस परमात्मतत्त्व के ध्यान में बड़ी सफलता मिली होगी वे ही पुरुष इस आत्मध्यान के प्रताप से अन्य भवों में भी आत्मसंगति कर रहे होंगे और सुखी होंगे। आत्मा को विश्राम अपने आपके इस कैवल्यस्वरूप में मिलेगा। किन-किनसे प्रेम बढ़ाया, किन-किनको सहाय माना, दुनिया में भटकते रहे आखिर सब बिछुड़ गए। किसी ने जवाब दे दिया, कोई प्रतिकूल हो गया, अनेक ऐसी स्थितियाँ बनी कि वे सब स्वप्न के स्वप्न रह गए। तो इस दुर्लभ नरजन्म को पाकर विषयों की अन्य प्रकार की कषायों में लगना यह सारभूत बात नहीं है, किन्तु कर्तव्यमात्र एक ही होना चाहिए कि अपने आत्मा में अपने आत्मा के स्वरूप का निर्णय करके, दर्शन करके और उस ही ओर झुके रह करके अपने को आनन्द में लीन बनायें और इस मनुष्य जन्म को सफल करें।

## श्लोक-247

नृजन्मनः फलं कैश्चित् पुरुषार्थः प्रकीर्तितः।  
धर्मादिकप्रभेदेन स पुनः स्याच्चतुर्विधः॥247॥

**चार पुरुषार्थ—** विद्वान् पुरुषों ने पुरुषार्थ में ही इस पुरुष की सफलता बतायी है। पुरुष मायने आत्मा। और अर्थ के मायने हैं इस पुरुष का जो प्रयोजन है, स्वरूप है, स्वभाव है उस स्वभाव के विकास का जो भी यत्न है उसका नाम पुरुषार्थ है। यह पुरुषार्थ 4 प्रकार का होता है—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। धर्म का अर्थ है पुण्य करना, शुभोपयोग करना, परोपकार दया करना, यह है धर्म का अर्थ। यद्यपि धर्म तो क्षोभरहित वीतराग चारित्रभाव को कहते हैं, लेकिन मोक्ष जो चतुर्थ पुरुषार्थ है उसका फिर पुरुषार्थ फिर क्या बताया जायगा? इसलिए इस धर्म को उत्कृष्ट स्वरूप में न लेकर ऐसे धर्म की व्याख्या मान लें जो धन और भोग का कारण बनता है। धन का उपार्जन पुण्य के उदय के अनुसार हुआ करता है और भोगों का समागम भी, भोगसाधन भी पुण्य के अनुसार मिला करता है तो धर्म है अर्थ और काम का कारण और धर्म का फल है वैभव और काम, इन्हें त्रिवर्ग कहते हैं, और त्रिवर्गों की मुख्यता गृहस्थों में हुआ करती है। जहाँ ये तीनों वर्ग नहीं रहते हैं उसे अपवर्ग कहते हैं जहाँ धन वैभव का उपार्जन और विषयभोगों का अनुभवन ये इल्लतें नहीं रहती हैं उसे कहते हैं अपवर्ग। अपवर्ग नाम है मोक्ष का।

**विवेक के सहयोग से त्रिवर्ग की पुरुषार्थता—** तो भैया ! पुरुषार्थ को मनुष्य जन्म का फल कहा गया है। और यह पुरुषार्थ 4 प्रकार का है। यहाँ एक शंका की जा सकती है कि विषयभोगों का अनुभवन भी यदि मोक्षपुरुषार्थ मान लिया गया तो इसमें तो पुरुषार्थ की मिट्टी पलीत कर दी गई। यह तो अज्ञान है, बेवकूफी है, कायरता है, फिर क्यों इसमें पुरुषत्व दिखाया गया है, इसके साथ ही साथ यह भी बात जानो कि साथ में विवेक लगा हो तो यह पुरुषार्थ है और विवेक नहीं है तो कामभोग विषय के साधन, धर्म का उपार्जन ये क्या पुरुषार्थ हैं? विवेक है तो धन का उपार्जन भी एक पुरुषार्थ है। कमाये हुए द्रव्य को धर्मकार्य में लगाते रहना इससे धर्म की कितनी प्रभावना और परम्परा चलती है। और यह प्रभावना धन के बिना होती नहीं है। जब इस दृष्टि में रहने वाले पुरुष धन का उपार्जन करें तो वह भी एक पुरुषार्थ है, और कभी लूटमार करके, डकैती करके, धोखा देकर धन बढ़ाये उसे यदि पुरुषार्थ कहने लगे तब तो अंधेर मच जायगा।

**सविवेक पुरुषार्थ से मनुष्यजन्म की सफलता—** भोग और भोगसाधनों की भी बात विवेक में पुरुषार्थ की मानी गयी है। एक ऐसा गृहस्थी जहाँ अपने परिवार में ज्ञान का वातावरण बनाये जा रहा हो, सबका पालन किया जा रहा हो, पुत्रों को विद्या सिखायी जा रही हो, योग्य बनाया जा रहा हो, यह भी तो भोग है। भोग के

मायने केवल कामसेवन ही नहीं है किन्तु मोक्षमार्गरूप एक शुद्ध अंतस्तत्त्व के अनुभवन के सिवाय जो कुछ भी भाव अनुभवन में लाया जा रहा है वह सब भोग है। पत्नी विवेकशील हो, परिवारजन विवेकशील नम्र हों, धर्म की रुचि करने वाले हों, उनके बीच बैठकर एक गौरव अनुभव में आता है यह भी भोग हैं। तो विवेकसहित धर्ममार्ग की परम्परा निभती रहे, इस परम्परा सहित भोग हो तो वह भी एक पुरुषार्थ कहा गया है, और मोक्षपुरुषार्थ तो स्पष्ट ही पुरुषार्थ है। उससे बढ़कर तो कुछ बात ही नहीं है। तो इन चार प्रकार के पुरुषार्थों के करने से इस मनुष्यजन्म की सफलता है और जिन पुरुषार्थों से हित है उनके न करने से मनुष्य होना बराबर है। उनके मनुष्य होने से कोई सिद्धि नहीं है।

### श्लोक-248

धर्मश्चार्थश्च कामश्च मोक्षश्चेति महर्षिभिः।  
पुरुषार्थोऽयमुहिष्टश्चतुर्भेदः पुरातनैः॥248॥

प्राचीन महर्षियों ने कर्म, अर्थ, काम, मोक्ष यह चार प्रकार का पुरुषार्थ बताया है। पुरुषार्थ मायने पुरुष का अर्थ। आत्मा का जो प्रयोजन है उस प्रयोजन की सिद्धि में जो यत्न है उसका नाम पुरुषार्थ तो मोक्ष पुरुषार्थ है। मोक्ष के लिए जो उद्यम होता है वह धर्म है। शेष तीन जो धर्म, अर्थ, काम हैं, पुण्य, वैभव का अर्जन और भोग पालन ये तीन त्रिवर्ग हैं। इनमें जो विवेकपूर्वक उद्यम किये जाते हैं तो ये तीन भी पुरुषार्थ है—आजकल मोक्ष पुरुषार्थ तो चलना नहीं है। आज के समय में मोक्ष ही नहीं है। तो जो तीन पुरुषार्थ है धर्म, अर्थ, काम इनमें विवेकसहित उद्यम करना चाहिए। अथवा मोक्ष के लिए जितने भी उद्यम हो सकते हैं सम्यग्दर्शनरूप, सम्यग्ज्ञानरूप और सम्यक्चारित्ररूप वे मोक्षपुरुषार्थ हैं।

**अहोरात्रचर्या का प्राकृतिक बंटवारा—** यहाँ आजकल मोक्ष पुरुषार्थ नहीं होता। तो पुरुषार्थ तो नहीं है मगर जिनके बिना सरता नहीं है ऐसी चार चीजें बता दें। कहो तो तीन तो हैं धर्म, अर्थ, काम और चौथी चीज है मान लो नींद लेना (सोना) तो चार काम करने को हैं अपने को। धर्म करना, धन कमाना, सबका पालन पोषण, देशसेवा, समाजसेवा और विषयभोग के काम हैं तथा चौथी बात है सोना, (नींद लेना) तो चार चीजें हैं करने की। चौबीस घंटे का समय है। तो हर काम के लिए 6-6 घंटा रख लो। 6 घंटे धर्म का काम करना, 6 घंटा धन कमाना, 6 घंटा दुनियादारी के काम करना और 6 घंटे सोना। 6-6 घंटे की कितनी अच्छी दिनचर्या अपने आप निकल आती है। जैसे कोई पूछे कि हम किस तरह चलें जिससे इस लोक में भी सुधार रहे और परलोक में भी सुधार रहे। तो वह चर्या बराबर-बराबर बांट दो। वही 6-6 घंटे का समय बांट लो प्रत्येक काम के लिए। यह 6-6 घंटे का समय प्राकृतिक ढंग से बांटा है, इसमें कदाचित् थोड़ा ही हेर फेर करना पड़ेगा।

सुबह जगने के बाद करीब चार बजे के बाद ब्रह्ममुहूर्त से लेकर 6 घंटा याने करीब 10 बजे तक धर्म के कार्य करो, फिर 10 बजे से 4 बजे तक याने 6 घंटा धनोपार्जन का आजीविका का काम करो, फिर 6 घंटा याने 4 बजे से रात के 10 बजे तक देशसेवा, समाल सेवा, परिवार के लोगों की सेवा, तथा भोगसेवा का काम कर लो फिर रात के 10 बजे से सुबह के चार बजे तक याने 6 घंटा निद्रा लेने का काम कर लो। तो यह कितनी सुन्दर दिनचर्या बन गई। लो सुबह धर्मकार्यों में मंदिर जाने के लिए नहाना भी धर्मकार्य में शामिल हो गया, आहार बनाये इस भाव से कि किसी त्यागी व्रती को आहार देकर आहार करेंगे यह भी धर्मकार्य में शामिल हो गया। यह काम 9।। या 10 तक चले। उसके बाद फिर आजीविका का काम है, फिर 4 बजे से लोकसेवा, समाजसेवा, कुटुम्बसेवा तथा भोगादि के धर्मातिरिक्त काम हैं, फिर 10 बजे रात से 6 घंटा सोने का काम है। तो ये 4 प्रकार के पुरुषार्थ हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष।

**ध्यान प्रसंग में पुरुषार्थ का उत्साह—** यहाँ प्रकरण ध्यान का। ध्यान के प्रकरण में पुरुषार्थ के लिए उत्साह दिलाया जा रहा है। कोई भी काम उत्साह बिना नहीं होता। जिस पुरुष को यह बात समझ में आ जाय कि और तो सब दंदफंद हैं, व्यर्थ में दूसरों की सेवा करना, दूसरों के विषय साधन का श्रम करना, मिलता जुलता कुछ नहीं। अन्त में अकेला ही मरना, अकेला ही जन्म लेना होगा। कोई किसी का साथी नहीं। यहाँ दंदफंदों में पड़ने से हित नहीं है किन्तु अपने आत्मा के स्वरूप की खबर हो और उस ओर दृष्टि जगे तो उससे अपना हित है, ऐसा जिसके भाव जगा है और ऐसी ही धर्मसाधना के लिए जिसकी उमंग उठी है वही पुरुष ध्यान में सफल हो सकता है। इस कारण धर्मसाधना के लिए उत्साहित करने के प्रयोजन से इन चार पुरुषार्थों की बात कही है। अब इन चार पुरुषार्थों की क्या विशेषता है, उसे कहते हैं।

## श्लोक-249

त्रिवर्ग तत्र सोपायं जन्मजातङ्कदूषितम्।

ज्ञात्वा तत्त्वविदः साक्षाद्यलन्ते मोक्षसमाधने॥249॥

**तत्त्ववेदियों द्वारा मोक्षसाधन पुरुषार्थ का आदर—** इन चार पुरुषार्थों में से पहिले के तीन पुरुषार्थ तो इन विनाशीक और संसार रोगों से दूषित हैं— धर्म, अर्थ। और काम तो नष्ट हो जाने वाली चीज है और सांसारिक रोगों से दूषित है, ऐसा जानकर जो तत्त्वज्ञानी पुरुष है वह साक्षात् मोक्ष के साधन में ही यत्न करता है। इन 4 पुरुषार्थों में सबकी दृष्टि मोक्षपुरुषार्थ की होनी चाहिए। चाहे मोक्ष पुरुषार्थ न बन सके, पर दृष्टि तो उत्कृष्ट हो, यथार्थ हो तो कुछ अपनी वर्तमान योग्यता के माफिक धर्म में बढ़ भी सकते हैं तो इन

तीन पुरुषार्थों को तो यह जानो कि यह संसार के आतंकों से दूषित हैं। सांसारिक रोग इसमें पड़े हुए हैं, इनसे छूटकर केवल मोक्षपुरुषार्थ में ही उपयोगी रहे वह स्थिति आत्मा की हितकारी है।

## श्लोक-250

निःशेषकर्मसम्बन्धपरिविध्वंसलक्षणः।

जन्मनः प्रतिपक्षो यः स मोक्षः परिकीर्तितः॥250॥

**कर्मबन्धन—** मोक्षपुरुषार्थ ही एक श्रेष्ठ पुरुषार्थ है। उस मोक्षपुरुषार्थ की बात समझने के लिए पहिले मोक्ष का स्वरूप जानना चाहिए। समस्त कर्मों के सम्बन्ध का ध्वंस हो जाना सो मोक्ष है। कर्म दो प्रकार के हैं— द्रव्यकर्म और भावकर्म। भावकर्म तो आत्मा के जो विकार परिणाम हैं उन्हें कहते हैं। राग द्वेष मोह विकल्प संकल्प ये सब हैं आत्मा के भाव। और द्रव्यकर्म हैं, वे उन भावों का निमित्त पाकर जो कामार्णवर्गणा आत्मा के साथ बँध जाते हैं, द्रव्यकर्म का जो बंध होता है वह बंध 4 प्रकार की बातों को लिए होता है। प्रत्येक बंध में 4 खासियत हैं— एक उस बंध की प्रकृति पड़ना कि यह बंध उस प्रकार का दुःख देगा, फल करेगा। एक ऐसी परिस्थिति भी होती कि दूसरी चीज बंध रही है उसका संयोग होना। और जो बंध रहा है वह कब तक बंधा रहेगा ऐसी उसमें स्थिति पड़ना, और जो बंध रहे हैं वे कितनी शक्ति से बंध रहे हैं ऐसा अनुभाग होना। प्रकृतिबंध, स्थितिबंध, प्रदेशबंध और अनुभागबंध कर्मों में लगा रहता है।

**कर्म में चार प्रकार का दृष्टान्त—** जैसे पेट में भोजन का बंध किया तो उस भोजन में 4 बातें होती हैं। कौनसा भोजन किस प्रकार के रसरूप परिणमेगा। कितने अंश में यह मलमूत्र रूप परिणमेगा, कितने अंश में खूनरूप परिणमेगा, कितने अंश में हड्डी, वीर्य, शक्ति आदिरूप परिणमेगा। ऐसी उसमें प्रकृति हो जाती है, और वह भोजन इस पेट में कितने समय तक बनेगा। अथवा उस भोजन का जो कि अंशरूप परिणमे, मलमूत्र,, खून, आदि रूप में कितने समय तक शरीर के साथ रहेगा, ऐसा भी उसमें निर्णय हो जाता है और वे कितने वज़न के परमाणु हैं, कितने का भोजन है, कितने स्कंध हैं, कितने प्रदेश है, ऐसा निर्णय हो जाना प्रदेशबंध है, और वे जो कुछ भी परिणाम उनमें कितनी शक्ति है, जितनी शक्ति मलमूत्र में है उससे अधिक खून में है, उससे भी अधिक हड्डी में है, उससे अधिक वीर्य में तो उनमें ऐसी शक्ति की डिग्री पड़ जाती है।

**कर्म में चार प्रकार—** सो जैसे भोजन में 4 बातें बन जाती हैं ऐसे ही जीव के साथ कर्मों का बंध होता वहाँ भी ये 4 बातें बँध जाती हैं। कौनसी कर्मवर्गणायें किसी प्रकार की प्रकृतिरूप से फल देंगी, कोई कर्म ज्ञान के आवरण का कारण बनेंगे, कोई कर्म जीव का दर्शन, गुण प्रकट न होने देंगे, कोई कर्म साता अथवा असातारूप परिणाम के निमित्त होंगे, कोई कर्म जीव में मोह को मिथ्यात्व को कषायों को उत्पन्न करने के

कारण होंगे, कोई कर्म यह जीव शरीर में कितने समय तक रहेगा ऐसी प्रकृति का कारण होगा। कोई कर्म इस आत्मा को ऊँच अथवा नीचकुल में उत्पन्न कराने का कारण होगा, कोई कर्म जो जीव की इच्छा है, दान है, लाभ है, भोग है उसमें बाधा देंगे इस प्रकार कर्मों की प्रकृति पड़ जाती है, यह है प्रकृतिबंध। और वे कर्म जो बंधे हैं कब तक रहेंगे इस जीव के साथ ऐसी उनमें स्थिति बंध जाय वह है स्थितिबंध। और वे परमाणु कितने बंधे है उन प्रदेशों का भी निर्णय है, और वे कर्म कितनी डिग्री के रूप में फल देंगे ऐसा अनुभाग भी पड़ जाता है। इन चार प्रकार के बंधों में बंधे हुए ये कर्म जब समाप्त हो जाते हैं, बिल्कुल नहीं रहते उस ही शुद्ध अवस्था का नाम मोक्ष है। आत्मा सहज जिस स्वरूप में, जैसा है, केवल वही रह जाय इसका नाम है मोक्ष।

**मोक्षपुरुषार्थ का उद्यम—** अब जिन्हें मोक्षपुरुषार्थ करना है उन्हें यह ध्यान रखना होगा कि हमें क्या बनना है। हमें बनना है सबसे न्यारा, केवल याने आत्मस्वरूप रहना है। तो ऐसा होने के लिए इतनी श्रद्धा भी है क्या कि मैं सबसे न्यारा हूँ, केवल ज्ञानानन्दस्वरूप हूँ। यदि श्रद्धा नहीं है तो ऐसा बनने का यत्न भी नहीं हो सकता। जो अपने आत्मस्वरूप का अस्तित्व न समझ सके तो उसकी वह मोक्षपुरुषार्थ की बात नहीं है संसार में रुलने की बात है। मोक्ष तो नाम केवल होने का है और उसी को केवलज्ञान कहते हैं। कैवल्य का अर्थ है केवल रह जाना। अपने कैवल्यस्वरूप का अनुभवन करे। तो वह कभी केवल हो जायेगा केवल रह जाने का ही नाम मोक्ष है। यह मोक्ष संसार का प्रतिपक्षी है। संसार में जन्म मरण है, संसार में रुलना है, संसार में बड़े क्लेश हैं, जिसे देखो वही क्लेश में पडा हुआ है तो उन सब क्लेशों का प्रतिपक्षी है मोक्ष। मोक्ष की दशा जिसको प्रकट हुई है वह अनन्त आनन्दस्वरूप है। यहाँ लोगों को बहुत डर रहता है। देशों के आक्रमण होते हैं, आजकल बड़े-बड़े भयानक हथियार हो गए हैं। कहो एक ही जगह बैठे-बैठे फेंक दें तो दो तीन सौ मील की एरिया में कहीं कुछ न बचे, जमीन में उपज भी नहीं हो सकती। ऐसे-ऐसे यंत्र हैं जिनको सुनकर यह मनुष्य बहुत घबड़ाता है, लेकिन जो मुक्त जीव हैं, जिन्हें मोक्ष मिल गया है वे भी तो जीव हैं, उनका कोई क्या करेगा।

**निर्मोहता में भय का अभाव—** यहाँ भी कोई किसी की जगह हो, जो अपने को मान रहा है कि मैं सबसे न्यारा केवल ज्ञानानन्दस्वरूप हूँ उसका भी कोई क्या करेगा। अधिक से अधिक शरीर न रहेगा। शरीर को छोड़कर मैं आगे चल दूंगा इतनी भी जिसके हिम्मत है उसका कोई क्या कर लेगा। ऐसी हिम्मत निर्मोह दशा में हो सकती है मोह में नहीं। तो जो निर्मोह बन रहे हैं, निर्मोहता की ही जिनके रुचि है उन्हें तो कोई डर नहीं है। मरते समय डर तो उन्हें रहता है जिनमें मोह लगा हुआ है। मरना सबको है, और करीब-करीब लोग मोह में ही मरते हैं। मरते समय भी मोह की बात करेंगे, मोह ही चित्त में बसायेंगे। कुछ शरण मिलता नहीं तो चित्त कहाँ लगे। जब वेदना होती है, मरने लगते हैं उस समय जरूर कुछ प्रभुनाम बोल लेते हैं, किन्तु प्रायः तो मोह ही बढ़ाते हैं—फलाने लड़के को बुला दो, फलाने को तार दे दो, झट आ जाय, प्राण निकल

रहे हैं, मरते समय तो देख लें। अनेकों तो यों मोह को ही लिए मरा करते हैं। और कितना दुःख होता होगा उस मरने वाले को जिसे मोहभाव लगा है मरते समय। तो मरण का दुःख उनके है जिनके मोह लगा है, हाय यह घर छूट जायगा, इतना श्रम किया यह सब व्यर्थ जा रहा है। यों जिसे किसी भी प्रकार का मोह हो मरण के समय में उसे ही क्लेश उत्पन्न होगा। जो जीव निर्मोह है उसका क्या। मेरा तो यह मैं हूँ, जब भी शरीर से विदा होऊँगा तो यह मैं पूरा का ही पूरा आपके स्वरूप को लिए विदा होऊँगा। तो यह संसार और यह मोक्ष ये दोनों प्रतिपक्षी हैं। संसार तो दुःखमय है और मोक्ष आनन्दमय हैं। संसार में आनन्द की कोई झलक नहीं है और मोक्ष में क्लेश का अंश भी नहीं है। तो उस मोक्ष के लिए पुरुषार्थ करें, वह पुरुषार्थ है ध्यान का। इन बाह्यपदार्थों में हित नहीं है ऐसा ध्यान न जगे तो अपने आपको जानूँ, मानूँ अपने आपमें रत होऊँ ऐसा ध्यान बने तो यही है सत्य पुरुषार्थ। मोक्ष के सम्बन्ध में और भी वर्णन करते हैं।

### श्लोक-251

दृग्वीर्यादिगुणोपेतं जन्मक्लेशैः परिच्युतम्।  
चिदानन्दमयं साक्षान्मोक्षत्यन्तिकं विदुः॥251॥

**मोक्षस्वरूप—** मोक्ष उसे कहते हैं जहाँ अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त शक्ति, अनन्त आनन्द प्रकट होता है। मोक्षमार्ग का सीधा अर्थ तो है छुटकारा मिलना। इस जीव को जब कर्मों से छुटकारा मिलता है, देह से छुटकारा मिलता है तो उस समय इस जीव की क्या स्थिति रहती है, उस स्थिति का बताना भी मोक्ष का स्वरूप बताना है। तब स्थिति यह रहती है कि इस जीव का ज्ञान अनन्त होता है। इतना विशाल ज्ञान सीमारहित ज्ञान तीन लोक में और अलोक में जो कुछ भी है, तीन लोक में अनन्तद्रव्य हैं, और लोक के बाहर केवल एक आकाश ही है। उस समस्त का जो भी सत् हो सर्व सत् को जान लेना यह अनन्त ज्ञान का काम है। और फिर यह ज्ञान इसलिए भी अनन्त है कि भविष्य में कभी भी इसका अन्त नहीं होता। प्रकट हुआ सो हुआ। ऐसे केवल ज्ञान की शुद्ध अवस्था जहाँ प्रकट हो उसका नाम मोक्ष है।

**परस्नेह के बन्धन से मुक्ति में अनाकुलता—** यहाँ जो मिला है किसी का भरोसा नहीं कि कब तक ठहरेगा। खेद की बात तो यह है कि मिट जायगा फिर भी उसी से प्रेम। कोई सार नहीं है फिर भी उसी से मोह। छोड़ दे मोह तो कुछ उद्धार है, मगर उसे छोड़ा नहीं जाता। दुःखी भी होता जाता और छोड़ा भी नहीं जाता। जैसे जिस घर में परस्पर में कलह भी मची हो और ऊब भी जाते हों फिर भी घर छोड़कर कहाँ जाये। घर तो यही है। रहना तो यही पड़ेगा। कितनी ही मुसीबतें आयें फिर भी नहीं छोड़ा जाता है। द्वेष से बड़ी मुसीबत

है राग की। पुत्र हो, स्त्री हो, पिता हो, माँ हो सभी परिवार के लोगों में राग रहता है। इस राग से उनके प्रति आकर्षण बना रहता है, अत्यन्त चिन्तातुर रहते हैं, तो द्वेष की ही बात नहीं है, उससे अधिक विपदा है राग की। जैसे द्वेष में भी रहकर यह जीव पर को छोड़ भी नहीं सकता है तो उससे भी ज्यादा विपदा राग की है। राग में रहकर तो यह कभी छोड़ ही नहीं सकता। द्वेष में तो कभी अलग भी हो जायगा और अलग हो जाने का संकल्प भी है, मगर राग का बन्धन बहुत विकट बन्धन है। जहाँ ये सब रागद्वेष हट जाते हैं वहाँ कर्मबन्धन भी दूर होता है। तब इस जीव की शुद्ध अवस्था प्रकट होती है। वह है अनन्त दर्शन, अनन्त शक्ति और अनन्त आनन्दसहित परिणति। यह मोक्ष अवस्था संसार के समस्त क्लेशों से रहित है। सर्व कर्म ही क्लेश हैं। सब क्लेश छूट जायें उसका ही नाम मोक्ष है।

**सम्यक् ज्ञान बिना चिन्ताओं का अभाव—** भैया ! सबके साथ जुदे-जुदे किस्म के क्लेश लगे रहते हैं, और सबके क्लेश अपने-अपने सामने हैं। लोग सोचते हैं कि अमुक काम कर लें, दूकान को इस ढंग से बना लें तो सब क्लेश दूर हो जायेंगे, फिर हमें कुछ नहीं करना है लेकिन बात क्या होती है कि उस दूकान की अवस्था हो जाने पर फिकर और बढ़ जाती है। यहाँ कोई ऐसी बात नहीं है जिसके हो जाने पर चिन्ताएँ दूर हो जायें। कोई एक काम हो गया तो उसी में दो चिन्ताएँ और सामने आती हैं। तो चिन्ताओं से निवृत्त यह मनुष्य जब तक नहीं हो सकता जब तक यह सम्यग्ज्ञान को अपना आश्रय न दे, ज्ञानदृष्टि न बनाये। एक विपदा दूर हुई नहीं कि दो विपदायें और सामने आ जाती हैं। कषाय जब लगी हैं तो कुछ भी सोच लो वही विपदा है। बच्चे लोग सोचते हैं कि परीक्षा दे दें, पास हो जायें फिर तो मौज है। अरे मौज कहाँ है, फिर जौलाई आयगी, दाखिला होगा, फिर वही पिटना, परीक्षा देना शुरू होगा, ऐसे ही जगत के सभी कामों को समझ लीजिए। एक विपदा मिटी नहीं कि दो विपदायें तैयार हैं।

**जन्मातीत अवस्था की शरणरूपता—** मेरे करने योग्य इस जगत में कुछ काम नहीं है, यह ज्ञान जगे तो उसकी सब चिन्ताएँ दूर हों, मगर लोग तो व्यर्थ में चिन्ताएँ करते हैं और उसमें ही अपनी चतुराई समझते हैं। तब क्या करें, सिवाय तत्त्वज्ञान के कुछ भी शरण नहीं है। इसके ही फल में मुक्ति मिलेगी। जहाँ किसी भी प्रकार के क्लेश नहीं होते वह अवस्था ज्ञानानन्दस्वरूप है। पूर्ण तो ज्ञान वहाँ प्रकट है और पूर्ण आनन्द वहाँ प्रकट है। ऐसा जो केवल आत्मा ही आत्मा रह गया और शुद्ध सहज गुण प्रकट हो गए उस ही अवस्था का नाम मोक्ष है। ऐसे मोक्ष के लिए जो प्रयत्न रखता है वह पुरुषार्थी संसार से तिर जाता है। जन्म उसका ही सफल है। आगे जन्म न लेना पड़े ऐसा उपाय जैसे जल्दी बन जाय उस जन्म की सफलता है। तो इन चारों पुरुषार्थों में मोक्ष पुरुषार्थ ही उत्कृष्ट है, उसके ही करने में हम आपका हित है।

## श्लोक-252

अत्यक्षं विषयातीतं निरौपम्यं स्वभावजम्।  
विच्छिन्नं सुखं यत्र स मोक्षः परिकीर्तितः॥252॥

**मोक्ष में इन्द्रियातीत निराकुल सुख—** मोक्ष किसे कहते हैं? जहाँ पर अतीन्द्रिय निर्विषय निरुपम स्वाभाविक विच्छेदरहित पारमार्थिक सुख हो। आत्मा की ऐसी स्थिति का नाम मोक्ष है जहाँ ऐसा आनन्द निरन्तर अनुभव में आता रहता है, जो इन्द्रिय से अतीत है, इन्द्रिय से उत्पन्न होने वाला जो सुख है अर्थात् इन्द्रिय का निमित्त करके आनन्दगुण का जो विकार उत्पन्न होता है वह सुख नहीं है क्योंकि उसमें क्षोभ पाया जाता है। सांसारिक सुखों को भी कोई बिना क्षोभ के भोग नहीं सकता। सुख भोगने के काल में भी क्षोभ बना हुआ है, पर कल्पना में इसने आनन्द मान रखा है, मोही उस क्षोभ की याद नहीं रखता, किन्तु संसार के प्रत्येक सुख क्षोभ से भरे हुए हैं। एक दुःखमय क्षोभ होता है एक सुखमय क्षोभ होता है। अपने स्वरूप से भ्रष्ट होकर बाहर-बाहर दृष्टि डालते रहना यह क्षोभ का काम है। तो इन्द्रियसुख चूँकि क्षोभसहित है, अतः आत्मा का स्वाभाविक ढंग नहीं है, सुख नहीं है। जहाँ अतीन्द्रिय सुख है वहाँ मोक्ष है।

**पराधीनता में क्षोभ की अनिवार्यता—** क्षोभ के मायने हैं समता न रह सकना, उथल पुथल होना। क्षोभ का शुद्ध अर्थ समझिये उथल पुथल। ये सारे इन्द्रियसुख क्षोभ से भरे हुए हैं। वे तो क्लेश हैं—एक दुःख का क्लेश और एक सुख का क्लेश। क्लेशरहित तो मोक्ष की अवस्था है, जहाँ इन्द्रिय से अतिक्रान्त अनुभव आता रहता हो और एक समान परिपूर्ण शाश्वत हो उसे मोक्ष कहते हैं। मोक्ष में विषयातीत सुख है। किन्हीं भी विषयों की सृष्टि करके किसी भी विषय पर अपना उपयोग चलाकर जो सुख माना जाता है वह सुख विनाशीक है और आकुलता से भरा हुआ है। आखिर जिन परपदार्थों को विषय बनाकर सुख माना जा रहा है वे परपदार्थ क्या तुम्हारे साथ चिपके ही रहेंगे? वे तो भिन्न पदार्थ हैं, छूटेंगे। तो जब पर का वियोग होगा तो इस जीव को आकुलता मचेगी। और फिर पराधीन सुख है। पराधीन सुखों को आनन्द नहीं कहा गया है। संसार में जितने भी सुख हैं वे सब पराधीन हैं। कोई लोग किसी मालिक के अधीन होकर ऐसा अनुभव करते हैं कि मैं पराधीन हूँ, किन्तु पराधीन तो वह मालिक भी है। पराधीन तो संसार के सभी प्राणी हैं। सब कर्मों के अधीन हैं और सब परपदार्थों पर दृष्टि रखकर परपदार्थों की कृपा चाहकर सुख भोगना चाहते हैं। तब सबका सुख पराधीन है। चाहे राजा हो, चाहे रंक हो, सुख सभी के पराधीन हैं। पराधीनता में एक कल्पना का ही तो अन्तर है, मगर सब पराधीनता के सुख क्लेशरूप ही हैं। तो जो विषयों पर दृष्टि करके सुख माना करेगा उसका सुख पराधीन है।

मोक्ष में स्वाधीन निरुपम सुख— मोक्ष का सुख पराधीन नहीं है, वहाँ किसी भी पर की दृष्टि करके आनन्द नहीं है किन्तु आनन्दस्वरूप स्वयं यह आत्मा है, और यह आत्मा समस्त पर के लेप से रहित रह गया है अतएव शुद्ध परिपूर्ण आत्मीय आनन्द प्रकट हैं तो जहाँ निर्विषय आनन्द हो उसे मोक्ष कहते हैं। मोक्ष में आनन्द निरुपम है उसकी किससे उपमा दें। आचार्यों ने संसारी प्राणियों को समझने के लिए मोक्षसुख की उपमा देने का प्रयास तो किया है मगर उनका प्रयोजन कुछ सांसारिक प्राणियों का आकर्षण मात्र है, उपमा नहीं है। क्या अंदाजा बताया है कि तीनों लोकों तीनों कालों के सभी सुखी पुरुष, देव, इन्द्र सबका जो सुख हो उनके भूत, वर्तमान और भविष्य के सभी सुखों को इकट्ठा कर लो, उससे भी अन्तरगुना सुख मोक्ष में है। संसारी प्राणी इन बातों को सुनकर खुश हो जाते हैं, लेकिन मोक्ष के आनन्द की चीज ही जब अलग है तो गुना करके भी क्या हिसाब लग सकता है? मोक्ष का सुख निरुपम है, हाँ सांसारिक सुखों में कुछ उपमा देते जाइये, वहाँ कुछ बात चल भी जायगी, देखे इन्द्र का सुख अमुक की तरह है। अमुक राजा का सुख अमुक राजा की तरह है, किन्तु मुक्ति के आनन्द की उपमा कहीं नहीं है। यही कहना पड़ेगा कि मुक्ति का आनन्द तो मुक्ति की ही तरह है। जहाँ ऐसा निरुपम आनन्द है उसे मोक्ष कहते हैं। मोक्ष में आनन्द स्वाभाविक है। अपने ही सत्त्व से अपने ही स्वभाव से प्रकट होता है, वह किसी पर की अपेक्षा रखकर प्रकट नहीं होता है।

**मोक्ष में अविच्छिन्न स्वाभाविक सुख—** संसार के सुख स्वाभाविक नहीं हैं, वैभाविक हैं, पराश्रयज हैं। जहाँ स्वाभाविक आनन्द हो उसे मोक्ष कहते हैं। मुक्ति का आनन्द कभी नष्ट न होगा, कभी उसका विच्छेद न होगा, विच्छेद तो उस आनन्द का होता है जिसके उत्पन्न होने में किसी परपदार्थ का निमित्त पड़ता हो, जो उपाधि से उत्पन्न होता है वह आनन्द पराश्रयज हुआ करता है, किन्तु मुक्ति का आनन्द तो अपने आप होता है, अपने स्वभाव से है, आत्माधीन है, आत्मा की ही चीज है इतना भी भेद क्यों डालना कि परमात्मा का आनन्द जो आनन्द है वही परमात्मा है, ज्ञानानन्दस्वरूप कोई आत्मा से भिन्न तत्त्व नहीं, किन्तु वह शुद्ध आत्मा परम आत्मा किस प्रकार का है ऐसा लोगों को समझाने के लिए भेददृष्टि करके ज्ञान और आनन्द की चर्चा की जाती है, किन्तु आत्मा कोई एक पदार्थ हो उसमें ज्ञान आनन्द भरा रहता हो तो ऐसी बात नहीं है किन्तु परमात्म ज्ञानानन्दस्वरूप ही है। ऐसा जहाँ उत्कृष्ट आनन्द निरन्तर झरता रहता है उसे मोक्ष कहते हैं। ध्यान के प्रकरण में पुरुषार्थ की बात कही गयी थी। उन चार पुरुषार्थों में से उत्कृष्ट पुरुषार्थ मोक्ष पुरुषार्थ है। जिन्हें मोक्ष पुरुषार्थ की खबर नहीं है उनके धर्मपालन नहीं हो सकता है। किसे धर्म कहते हैं, क्या पालन है यह उन्हें कुछ विदित नहीं है, इसलिए मोक्षपुरुषार्थ का सर्वप्रथम हमें एक प्रकाश होना चाहिए कि मोक्ष वह है जहाँ इस प्रकार का अतीन्द्रिय उपमारहित स्वाभाविक सुख हो।

### श्लोक-253

निर्मलो निष्कलः शान्तो निष्पन्नोऽयन्तनिर्वृतः।

कृतार्थः साधुबोधात्मा यत्रात्मा तत्पदं शिवम्॥253॥

**शरीर और कर्म से रहित अवस्था की मोक्षरूपता—** मोक्ष का स्वरूप और भी बता रहे हैं कि जहाँ यह आत्मा द्रव्यकर्म और नोकर्म से रहित हो जाता है उस पद को मोक्ष कहते हैं। इस आत्मा के साथ बाहरी द्रव्य दो प्रकार के लगे हैं—एक नोकर्मवर्गणा और एक कर्मवर्गणा। नोकर्म मायने शरीर जो हम आप सबको दिख रहा है, वह सब नोकर्म है, उपाधि है, परतत्त्व है, यह भी जीव के साथ लगा है। कहीं भी जीव से शरीर को न्यारा नहीं पाते। इस ही शरीर को हम देख पाते हैं कि यह जीव है और उस ही शरीर को निरखकर हम कुछ व्यवहार करते हैं। शरीर से जीव पृथक् नहीं है। इस समय उस शरीर में बना हुआ है, लेकिन वस्तुतः तो पृथक् ही है। स्वरूपदृष्टि से देखा जाय तो शरीर और वस्तु है, ज्ञानात्मक जीवतत्त्व और वस्तु है, लेकिन जब तक हमें इसका संयोग है, मेल है, बन्धन है तब तक संसार है। जब इसका बन्धन टूट जाता है, खालिस आत्मा रह जाता है उस ही का नाम मोक्ष है।

**जीव के साथ शरीर और कर्म की उपाधि—** देखो भैया ! एक उपाधि है शरीर की और दूसरी है द्रव्यकर्म की। ऐसी सूक्ष्म कामार्णववर्गणायें बन्धन को प्राप्त हैं। जिन्हें न हम केवल आँखों से देख सकते हैं और न कानों से टटोल सकते हैं, अत्यन्त सूक्ष्म हैं। यद्यपि उतने परमाणु लगे हैं जितने शरीर के परमाणु हैं उससे अनन्त गुणे। इतना बड़ा पिण्ड होकर भी मरने पर जीव के साथ ये समस्त कर्म जाते हैं और वज्रपटल को भी बिना आघात किये भेदकर चले जाते हैं। न वज्रपटल का नुकसान होता है और न जीव से कर्म छूटते हैं। इतने सूक्ष्म जीवकर्म हैं जो जीव के साथ लगे हैं। और, अनुमान करो कि जब कोई मनुष्य कुछ अपराध करता है तो अपराध करने के कारण आसपास का वातावरण गंदा हो जाता है, और उस अशान्त वातावरण का इस पर जो प्रभाव पड़ता है वह अशान्त वातावरण क्या है। पुद्गल का ही तो परिणमन है। तो जब जीव अपराध करता है तो इसके अपराध का निमित्त पाकर कोई सूक्ष्म एक ऐसा वातावरण है जो जीव के साथ बँध जाता है, ऐसे उपाधिभूत सूक्ष्मकर्मपरमाणु भी इस जीव के साथ लगे हैं। तो कर्म और शरीर दोनों से जब आत्मा रहित हो जाता है तो उसे मुक्ति कहते हैं।

**निष्कल अवस्था की मोक्षरूपता—** यह आत्मा निष्कल है। लोग कहते हैं कलह मत करो। कल से सम्बन्धित कलह है मायने शरीर की क्रियायें—आना, जाना, बोलना, उछल फांद, दखल देना आदि। तो कलह बुरी चीज है। उस कल से जो रहित है उसे मुक्त कहते हैं। जहाँ पर अशरीरता है, केवल ज्ञानप्रकाश ही है उस पद को मोक्ष कहते हैं। यह मोक्ष पद शान्त है अर्थात् क्षोभरहित है। समुद्र एक शान्त बना हुआ है, किन्तु जरा सी हवा चल जाय तो उसमें क्षोभ उत्पन्न हो जाता है, लहरें उसमें मचा करती हैं और कोई-कोई लहर 5-7 फिट ऊँची उठ जाती है समुद्र में तो समुद्र के किनारे खड़े हुए मनुष्यों को बहा ले जाती है। एक तो ऐसा

क्षोभ होता है और उस समुद्र के ही भीतर कोई मगरमच्छ सांस ले ले तो उससे भी अन्दर से क्षोभ उत्पन्न होता है, वह भी एक क्षोभ है। उत्पन्न होता है वह भी एक क्षोभ है। ऊपर से कोई कंकड़ पत्थर डाले तो उसमें एक गोल लहर सी उठती है वह भी क्षोभ है। समतल से रहने वाले समुद्र में कुछ भी विकार आना वह सब क्षोभ है, इसी तरह रागद्वेषरहित निर्मोह अवस्था से उत्पन्न होने वाला जो साम्यभाव है, धैर्य है उसमें विकार आना, उसका बिगाड़ होना वह सब क्षोभ है। चाहे वह स्पर्शनइन्द्रिय के सुख से उत्पन्न हुआ हो चाहे रसना आदिक इन्द्रिय के सुख से उत्पन्न हुआ हो वह सब क्षोभ है, वहाँ आनन्द नहीं है। जहाँ क्षोभरहित दशा है उसे मोक्षपद कहा करते हैं।

**मोक्ष की स्वभावनिष्पन्नता**— यह मुक्तिपद एक निष्पन्नरूप है, आत्मा का परिपूर्ण शुद्धरूप है। दो प्रकार के योग होते हैं— एक आरब्धयोग और एक निष्पन्नयोग। ध्यान करना आरब्धयोग है और ध्यान की साधना होने पर जो एक स्थिरता आती है वह है निष्पन्नयोग। ऐसे स्थिर ध्यान का नाम है निष्पन्नयोग। ऐसे निष्पन्नयोग जब आत्मा में परिपूर्ण शुद्ध दशा प्राप्त कर लेता है, जहाँ शरीर नहीं, क्षोभ नहीं ऐसी स्थिति को कहते हैं निष्पन्न स्थिति वाला। सिद्ध भगवान पूर्ण शुद्ध हैं। तो जहाँ ऐसी निष्पन्नता प्रकट हो इसे मोक्ष कहते हैं। यह प्रभु अत्यन्त अविनाशी सुखस्वरूप है, जहाँ अविच्छिन्न आनन्द प्रकट होता है उसे मोक्ष कहते हैं। सबसे खास बात है कि वहाँ कृतकृत्यता प्रकट हो जाती है। संसार के प्राणी मुझे यह काम करना है, यह काम करने को पडा है इस ही ख्याल में दुःखी बने हुए हैं। जो भी यहाँ कुछ सुख अनुभव करता है उसे सुख तो मिला है इस बात का कि कुछ समय को उसके चित्त में यह बात आयी है कि मुझे करने को अब कुछ रहा नहीं, पर माना उसने यह है कि यह पदार्थ हमारा बन गया, इससे मुझे सुख मिला है। इस कारण ऐसी दृष्टि करने से उस सुख का भी सही उपयोग नहीं कर पाता।

**कृतार्थता का मर्म और प्रभाव**— जितने भी सुख होते हैं उन सुखों का मूल उपाय और उनकी मूल पद्धति यह है कि जब विकल्प कम हों तब ही सुख है। मुझे करने को कुछ नहीं रहा इसका आनन्द है। किसी चीज को आप लिख रहे हैं हिसाब या लेख तो उसके पूरे हो जाने पर आप कितना सुख और विश्राम मानते हैं। यह सुख काहे का है? जो करने को काम था वह अब नहीं रहा इसका सुख है। काम पूरा होने से सुख नहीं मिलता किन्तु काम करने को न रहने से सुख मिलता है। बात एक है। जैसे लोग कहते हैं कि अब बस, हमारी तो सब इच्छा पूर्ण हो गयी। इच्छा पूर्ण हो गयी का मतलब क्या? इच्छा नष्ट हो गयी। उसी को नष्ट होना कहो, उसी को पूर्ण होना कहो, एक ही बात है। शायद विज्ञान वाले लोग जब कोई काला रंग ज्यादा से ज्यादा काला करे तो उसकी चरम सीमा पर पहुँचने पर तो सफेद हो जाता होगा। तो काम पूर्ण हो चुका अर्थात् अब वह काम करने को नहीं रहा। मेरी इच्छा पूरी हो गई, मतलब मेरी इच्छा नष्ट हो गयी। तो वहाँ इच्छा नष्ट होने का आनन्द आया, पूर्ण होने का आनन्द नहीं आया बात यद्यपि एक ही है मगर पूर्ण होने से

आनन्द आया ऐसी दृष्टि पराधीन है, और इच्छा न होने से आनन्द आया ऐसी दृष्टि स्वाधीन है। तो जहाँ ऐसी कृतकृत्य दशा प्रकट होती है उस पद को मोक्ष कहते हैं।

**मोक्ष में परम निराकुलता का अनुभवन—** मोक्ष में न परिवार है, न वैभव है, न घर है, न रसोई है, न खाना पीना है, न नाते रिश्तेदारी है, न काम काज है। यहाँ कहते हैं कि हमको तो जरा भी फुरसत नहीं है और जिसके पास फुरसत है उसका चित्त बेकार हो जाता है, मन नहीं लगता है, और अधिक फुरसत में रहे तो दिमाग भी खराब हो जाता है। यहाँ तो यह हालत होती है और वहाँ मोक्षपद में सारी फुरसत ही फुरसत है, वहाँ करने को कुछ काम ही नहीं है, तब वहाँ क्या गुजरती होगी। यहाँ तो फुरसत मिलने पर कितना दुःख है, चित्त बेकार हो जाता है। तो यहाँ चित्त चाहता है काम करने को पर काम मिल नहीं रहा है तो फुरसत रहती है। इसके समाधान में सुनिये—सिद्धपद में ऐसी कृतकृत्यता प्रकट होती है कि वहाँ आकुलता नहीं है। यहाँ संसार अवस्था में भी सम्यग्दृष्टि का जो आशय है, ज्ञान है उस ज्ञान में भी कैसी सुन्दर कृतकृत्यता बसी हुई है। सभी प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से परिपूर्ण है। कोई पदार्थ अधूरा नहीं है, जो पदार्थ जिस स्वभाव का है वह अपने में परिपूर्ण है। प्रत्येक पदार्थ निरन्तर परिपूर्ण रहते हैं। जब यह जीव विकास करता है तब भी पूरा का पूरा ही रहता है और जब निगोद जैसी निम्न गतियों में पहुँचता है तो वहाँ भी यह पूरा का पूरा ही रहता है। प्रत्येक पदार्थ अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव में हैं, किसी अन्य पदार्थ में किसी पदार्थ का प्रवेश नहीं, परिणमन नहीं, सभी पदार्थ स्वतंत्र हैं। मैं किसी पर का क्या कर सकता हूँ। जो भी मैं किया करता हूँ वह अपने आपके गुणों में अपने आपका परिणमन करता हूँ। अन्यत्र जो कुछ होता है उन्हीं गुणों में उनका परिणमन होता है। मैं किसी पदार्थ में कुछ करता ही नहीं, अतएव किसी पर मैं मुझे कुछ करने को पडा ही नहीं, क्योंकि किया ही नहीं जा सकता। वस्तु का स्वरूप अकाट्य है। ऐसे निर्णयपूर्वक ज्ञानी पुरुष के यह भाव रहता है कि जगत में मेरे करने को कुछ नहीं है।

**ज्ञातृत्व अवस्था का वैभव—** आज वैभव है, उसकी व्यवस्था है, ठीक है, उसके भी ज्ञाताद्रष्टा रहना चाहिए। कभी दारिद्र्य आ जाय तो वह भी एक स्थिति है। ज्ञानी को न तो उस वैभव से कोई प्रसन्नता है और न दारिद्र्य में कोई अप्रसन्नता है। वह अपने आपको ऐसा ही देख रहा है। मैं तो उतना का ही उतना हूँ। घट नहीं गया। बल्कि एक विकास दृष्टि से देखो तो यह भी सम्भव हो सकता कि जब वैभव हो तब यह जीव घट गया हो और जब वैभव न रहा हो तो यह जीव विकसित हो गया हों याने लौकिक दारिद्र्य में तो कुछ विकास कर गया हो और वैभव पाकर कुछ पतन कर गया हो। यह भी सम्भव हो सकता है। तो ज्ञानी पुरुष सांसारिक स्थितियों में हर्ष और विषाद नहीं मानता, उनका ज्ञाताद्रष्टा रहता है। सम्यग्दर्शन के अंग में होता है एक निर्विचिकित्सा अंग। उसका व्यावहारिक अर्थ लोग यह लगाते हैं कि साधुजनों की, धर्मात्मा जनों की सेवा करते हुए ग्लानि न करना। जैसे मोह में तो अपने बच्चे की नाक, टट्टी, मूत्र वगैरह साफ करने में तो कुछ ग्लानि नहीं मानते, ऐसे ही धर्मात्माजनों की सेवा करते हुए मैं किसी भी प्रकार की ग्लानि का न आना

सो निर्विचिकित्सा अंग है। ज्ञानी पुरुष हर्ष के साधनों में हर्ष नहीं मानते और प्रतिकूल साधनों में विषाद नहीं मानते। ज्ञानी पुरुष को अपने आत्मा में भी ग्लान नहीं होती है। ग्लान उसे कहते हैं जो पथ से भ्रष्ट हो जाय। तो सम्यग्दृष्टि जीव कैसी भी स्थितियाँ गुजरें, सबका ज्ञाताद्रष्टा रहता है, उनमें क्षोभ नहीं करता। यह परमार्थ से निर्विचिकित्सा अंग है।

**परिपूर्ण शुद्ध आत्मविकास की मोक्षरूपता—** जहाँ परिपूर्ण शुद्ध आत्मविकास है उसे मोक्ष कहते हैं। मुक्ति में एक ज्ञानज्योति ही प्रकट है। ज्ञानस्वरूप ही विकसित हुआ है। ऐसा ज्ञानानन्दस्वरूप जहाँ परिपूर्ण विकसित होता है उसे मोक्ष कहते हैं, और ऐसी परिपूर्णता का अपने आपमें यत्न हो, योग ध्यान, भेदविज्ञान, आत्मध्यान, तपश्चरण, संयम ये सभी मोक्षपुरुषार्थ कहलाते हैं। इन चार पुरुषार्थों में सर्वोत्कृष्ट मोक्ष पुरुषार्थ है। जो जीव मोक्षपुरुषार्थ से भ्रष्ट हैं अथवा मोक्षपुरुषार्थ से अपरिचित हैं ऐसे पुरुषों का धर्म पालन नहीं होता। न उन्हें द्वेष से शान्ति आती है, न कल्पनाएँ करके कुछ भी सुख पाते हैं, वे सदा आकुलित रहा करते हैं। अपने कैवल्यस्वरूप को जानें, ज्ञानानन्दस्वरूप की दृष्टि रखें, निरन्तर उसको ही सर्वस्व समझें, उससे ही आत्मा की हित मानें और बाकी सारा वैभव तृणवत् असार है, ऐसा अपना अंतःप्रकाश जगे, बस पुरुष तो वही है, वही मोक्षपुरुषार्थी है, ऐसे मोक्षपुरुषार्थ का हम आप सभी को यत्न अधिक से अधिक करना चाहिए।

## श्लोक-254

तस्यानन्तप्रभावस्य कृते त्यक्त्वाखिलभ्रमाः।

तपश्चरन्त्यमी धीराः बन्धविध्वंसकारणम्॥254॥

**निर्भ्रान्त आत्मावों द्वारा निर्बन्धता के अर्थ तप का आचरण—** धीर वीर पुरुष इन अनन्त प्रभावों वाले मोक्षरूप कार्य के निमित्त समस्त भावों को छोड़कर कर्मों के कारण रूप उत्पत्ति को स्वीकार करते हैं। अभी मोक्षपुरुषार्थ का वर्णन किया था जिसमें मोक्ष का स्वरूप दिखाया है। मोक्ष में आत्मा का पूर्ण शुद्ध विकास है, मोक्ष में आत्मीय शुद्ध आनन्द है और मोक्ष की जो शुद्ध अवस्था है उसका कभी भी विनाश नहीं होता है अर्थात् सदाकाल के लिए अनन्त आनन्दमय होना यह मोक्ष में पाया जाता है। मोक्षरूप कार्य के लिए जो विवेकी पुरुष हैं, ज्ञानी संत हैं वे अन्य समस्त भ्रमों को छोड़ देते हैं। जगत से उनका फिर कोई प्रयोजन नहीं रहता। वे किसी भी बाह्यसाधन में अपना उपयोग नहीं लगाते। किसी भी परपदार्थ से अपना हित नहीं समझते हैं, किसी भी परपदार्थ को करने का भाव नहीं रखते हैं। और किसी भी पर से आनन्द मिलता है ऐसा भी उनके भ्रम नहीं है। सर्वप्रकार के भ्रमों को छोड़कर वे तपश्चरण को अंगीकार करते हैं। यह तपश्चरण समस्त

कर्माँ के नष्ट करने में समर्थ है कर्म कहो कष्ट कहो तपश्चरण उन कष्टों को दूर करने में समर्थ है इस कारण से विवेकी पुरुष समस्त सांसारिक कार्यों को छोड़कर मुनिपद को धारण करते हैं।

**निष्परिग्रहता में मौन, साधुता एवं योग—** मुनि का अर्थ है जो तत्त्व की बात का मनन करे। साधु का अर्थ है जो आत्मा के विकास की साधना करे। योगी का अर्थ है जो अपने आत्मा को अपने स्वभाव में लगाये। ये सभी बातें एक मोक्ष के उद्यम का समर्थन करती हैं। ये साधु जब सर्व आरम्भ और सर्वपरिग्रहों को त्याग देते हैं तब साधु होते हैं। केवल आत्मा का शुद्ध विकास चाहिए है तो दृष्टि में केवल आत्मा ही आत्मा रहे। और यह बात तब बनेगी जब कोई आरम्भ और परिग्रह न लगा रखा हो। इस कारण आरम्भ और परिग्रह को त्याग कर साधु पुरुष एक इस मोक्षपुरुषार्थ की साधना करते हैं।

### श्लोक-255

सम्यग्ज्ञानादिकं प्राहुर्जिना मुक्तेर्निबन्धनम्।  
तेनैव साध्यते सिद्धिर्यस्मात्तदर्थिभिः स्फुटम्॥255॥

**रत्नत्रय की मुक्तिकारणता—** जिनेन्द्र भगवान सम्यग्ज्ञान आदिक को मुक्ति का कारण कहते हैं। मुक्ति के मायने छूटना। किससे छूटना? आत्मा के पारिणामिक भावों से। अरे स्वभाव से उत्पन्न होने वाले विकास के अतिरिक्त जितने भी परभाव हैं उन परभावों से छूटने का नाम मुक्ति है। तो यह मुक्ति कब बने? जब पहिले यह श्रद्धा हो कि मेरा स्वरूप इन परतत्त्वों से पृथक् ही है। जिसको अपने स्वभाव के पर से पृथक् रहने की श्रद्धा नहीं है उसका उद्यम नहीं बन सकता कि वह परभाव से छूट सके। तो पहिले जो काम करना हो उसका श्रद्धान चाहिए। लोक में भी व्यापार करने वाले व्यापार का श्रद्धान रखते ही हैं। और आरम्भ करने वाले लोग उस आरम्भ में क्या लाभ है उसकी श्रद्धा रखते ही हैं। इस प्रकार जिन्हें मुक्त होना है उन्हें मेरा आत्मस्वरूप स्वभाव से परभावों से छूटा हुआ है, मुक्त ही है, ऐसी श्रद्धा चाहिए और फिर स्वतंत्रस्वरूप को निरखकर वहाँ ज्ञान बनाये रहें यह सम्यग्ज्ञान चाहिए। और फिर ऐसा ही ज्ञान बनाये रहें ऐसा चारित्र चाहिए। तो यह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र मुक्ति का कारण है।

**चारित्र का स्वरूप—** चारित्र का विशुद्ध स्वरूप यह है कि ज्ञान स्थिर रहा करे। जैसा यथार्थ जाना है वैसा ज्ञान बराबर रहा करे उसका नाम चारित्र है। उस उद्यमन में जब कभी शिथिलता होती है, कोई प्रमादभाव आता है, विकार आता है, तो उसे दूर करने के उपाय में जो भी व्यवहार में किया जाता है उसे भी चारित्र कहते हैं। जैसे 12 प्रकार के तपश्चरण करना, अनशन करना, भोजन त्याग देना, यह सब कुछ बाह्य प्रवर्तन

निश्चयतः मुक्ति का कारण नहीं है, और भोजन करना भी मुक्ति का कारण नहीं है, किन्तु मुक्ति का कारण है ज्ञान का निरन्तर विशुद्ध बना रहना तो ज्ञान निरन्तर शुद्ध बना रहे इसमें जब शिथिलता आती है अर्थात् कोई विकारभाव रहता है तो उनके दूर करने की जो एक प्रक्रिया है वह सब भी चारित्र कहलाता है। भोजन करने का विकल्प हो तो बुरा है ही, किसी भी प्रक्रिया का विकल्प होना बुरा है। तो जब चाहे वह विकल्प न हो ऐसी साधना के लिए अनशन कर लेते हैं, अथवा इन्द्रिय में कुछ उद्दण्डता जँचने लगे तो अनशन कर लेते हैं। ज्ञानी जीव भी अनशन आदिक तपश्चरण को करते हैं किन्तु उनकी दृष्टि सही है। मोक्ष का साधन तो शुद्ध ज्ञान का बनाये रहना है। अपने को ज्ञाताद्रष्टा बनाये रहने का नाम ही सम्यक्चारित्र है। तब मुक्ति की जो इच्छा करते हैं उन्हें बताया है जिनेन्द्रदेव ने कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की पूर्णता मोक्ष का मार्ग है।

निज केवलस्वरूप के स्वीकरण से कैवल्य का विकास— जिस काम का जो कारण होता है उसको उस विधि से अंगीकार करने से कार्य की सिद्धि होती है अपने को मुक्त होना है इसका सीधा अर्थ यह है कि अपने को केवल होना है, केवल रहना है। मैं स्वयं अपने स्वरूप में अपने अस्तित्व से जैसा जो कुछ हूँ उतना ही मात्र हमें रहना है, किन्तु इसके खिलाफ तो अनादिकाल से अब तक चले आये हैं, परभावों में परपदार्थों में बहुत-बहुत बुद्धि लगायी है, मोह किया है, दूसरे को अपनाया है, इसमें कोई सिद्धि नहीं हो सकी है, इस विडम्बना में जन्मे मरे। अब मनुष्य हैं, अब तक भी जन्म मरण का चक्र चल रहा है। यदि केवल चलना है तो जो अपना केवलस्वरूप है, केवल अपने आपका जो अस्तित्व है उसकी श्रद्धा करनी चाहिए और ऐसा ही अपने को निरखते रहना, ऐसा ही मग्न होना इसी का नाम रत्नत्रय है। केवल होना है तो केवल मैं हूँ अर्थात् केवल अपने स्वरूप से ही हूँ, अन्य के स्वरूप से नहीं हूँ, वैसा ही मात्र मैं रहा आऊँ, अर्थात् इस मुझमें किसी पर का सम्बन्ध न हो, किसी परउपाधि के निमित्त से कोई विकार उत्पन्न न हो, उपयोग में केवल यह मैं ही मैं रहूँ ऐसी भावना बने तो यह केवल बन सकता है। और केवल बनने का नाम ही मुक्त होना है।

## श्लोक-256

भवक्लेशविनाशाय पिव ज्ञानसुधारसम्।

कुरु जन्माब्धिमत्येतुं ध्यानपोतावलम्बनम्॥256॥

**भवक्लेशविनाशानार्थं ज्ञानसुधारस का पान—** हे आत्मन् ! तू संसार के क्लेशों के विनाश करने के लिए ज्ञानरूप सुधारस को पी, जहाँ अपना यथार्थ बोध किया वहाँ क्लेश तुरन्त दूर हो जाते हैं, और जब अपने यथार्थ स्वरूप की प्रतीति न रखकर अन्य-अन्य अवस्थाओंरूप अपने को माना कि वहाँ क्लेश उत्पन्न हो जाता है। सर्वक्लेशों से मुक्ति पाना इतना बड़ा काम केवल इतनी सी भीतरी बात पर निर्भर हैं अपने को पररूप मानना, ऐसा तो क्लेश पाने का उपाय है। और, अपने को अपने सत्त्व के कारण जितना जैसा हो उतना ही माने, यही क्लेशों से निवृत्त होने का उपाय है। सिर्फ मान से ही संकट लगते हैं और मानने से ही संकट छूटते हैं। अपने आपको अपने स्वरूप में ही मानना और यह दृढ़ता से मानना बन जाय और इसही प्रकार अपने आपको निरन्तर जानते रहें तो इसमें रत्नत्रय अपने आप आ जाता है। एकाग्रता का होना ध्यान है। अब एकाग्रता किस पर करना है जिसके फल में मुक्ति प्राप्त होती है। तो केवल होने का नाम मुक्त है ना। केवल बनना है तो केवलस्वरूप की ओर एकाग्रता हो तो इस ध्यान से केवल बनने का उपाय बन सकता है।

**स्वावबोध के कार्य की असुगमता का अभाव—** भैया ! अपनी बात अपने लिए बहुत सुगम है। सुगम उसके लिए है जिसे विशुद्ध बनना है, और जिसका चित्त विषयसाधनों में ही बसा हुआ है उसके लिए यह बात कठिन है। मैं जो हूँ वही अपने को मानता रहूँ इसमें क्या कठिनाई है? कुछ भी कठिनाई नहीं है लेकिन जब विषयसाधना से चित्त कलुषित है तो उस चित्त में यह बात नहीं समा पाती है। और, ऐसी वासना से दूषित चित्त को दूर करने के लिए, वासना संस्कार को मिटाने के लिए हमें इस कैवल्यस्वरूप के ज्ञान का अभ्यास करना चाहिए। इसके लिए स्वाध्याय करें, सत्संगति बनायें, इसकी धुन रखने का यत्न करें, चर्चा में रहें, बाहरी पदार्थों में लोगों के संग में हम पक्ष को, राग को, द्वेष को न उत्पन्न करें। ऐसे ही ऐसे सब काम जब अपने अनुकूल जुटने लगते हैं तो इसकी दृष्टि अपने आप पर जमती है, स्थिर होती है। यह काम नहीं किया इसी कारण अब तक संसार में रुलते आये, और जब भी संसार से रुलना छूटेगा तो इसी कार्य के प्रसाद से ही छूटेगा। हम अपने कैवल्यस्वरूप को जानें और उसको ही जानते रहें इतनी प्रक्रिया अन्दर में चलेगी तो वह केवल हो सकता है। उसके लिए एक आत्मा के ध्यान का ही मुख्य सहारा है।

**भवसागर से उत्तीर्ण होने के लिये ध्यानपोत का आलम्बन—** इस संसार सागर से पारहोने के लिए ध्यानरूपी जहाज का आलम्बन हमारे विकल्पसंकटमोचन कार्य को सिद्ध कर सकता है। जैसे कोई समुद्र में पड़ा हो तो उसे नाव मिले, जहाज मिले, उसका आश्रय करे तो वह पार हो जाता है इसी प्रकार भवसागर में हम डूब रहे हैं, गोते खा रहे हैं। हमको ध्यानरूपी नाव का सहारा मिलना चाहिए। यह बात कठिन नहीं है। हम सब अपने अनुभव से समझते हैं कि हम जब अपनी ओर झुकते हैं तो कितने ही क्लेश शान्त हो जाते हैं। जब हम अपने से बाहर निकलकर बाह्यपदार्थों में रमते हैं तो हमें क्लेश उत्पन्न हो जाता है। अपनी दया करना है, अपने को शान्त बनाना है, विशुद्ध रखना है तो बस अपने आपके शुद्ध स्वरूप का अर्थात् कैवल्यस्वरूप का

ज्ञान करें, उसकी रुचि रक्खें, उसमें यह अपना पक्का निर्णय रखें कि मेरा हित मेरा आनन्द मेरा कल्याण तो एक केवल इस शुद्ध आत्मतत्त्व की भावना में है। शुद्ध का मतलब है कि यह में अपने स्वभाव से अपने सत्त्व से अपने मात्रस्वरूप से जैसा मैं होऊँ उसका नाम है शुद्ध। जैसे इस समय विकारपरिणमन चल ही रहे हैं, इन विकारपरिणमनों से हम यदि हटना चाहें तो हमें शुद्धवस्तु का सहारा लेना चाहिए।

**प्रभु के ध्यान में शुद्धता का प्रसंग—** प्रश्न— शुद्ध वस्तु तो हैं अरहंत और सिद्ध। क्या उनकी ही दृष्टि रखकर उनका सहारा लेकर हम शुद्ध बन सकते हैं? उत्तर— इसमें दो बातें विचारना है। प्रथम तो यह है कि कोई भी जीव किसी दूसरे जीव का सहारा ले भी नहीं सकता है क्योंकि परिणमन प्रत्येक पदार्थ में उसमें उसका ही स्वयं का होता है, पर के स्वरूप से नहीं तो प्रथम तो कोई भी द्रव्य किसी भी अन्य का सहारा नहीं ले सकता है। जैसे मोह में लोग कल्पना तो करते हैं, अपने पुत्र का, पिता का, मित्र का सहारा लेते हैं और उस रूप अपना दिल बनाते हैं, पर वस्तुतः वहाँ भी कोई किसी दूसरे का सहारा नहीं ले रहा है, किन्तु अपनी ही उस प्रकार की कल्पनाएँ बना रहा है जिस कल्पना में पर का शरण लेना विषय पडा हुआ है। तो प्रथम तो अरहंतसिद्ध का आलम्बन कोई लेता नहीं, किन्तु आश्रय उनका विषयमात्र है जैसा कि हम समझते हैं उनमें। तब भिन्न पदार्थ हैं, परपदार्थ हैं, सिद्ध हैं वे प्रभु लेकिन उनके सहारे से यह शुद्धता का विकास होता है। सहारा तो प्रत्येक जीव अपना ही लिया करते हैं। जब कभी विकार का सहारा लेते हैं तो विकृत बनते हैं और जब अपने शुद्धस्वरूप का सहारा लेते हैं तो शुद्धस्वरूप बनते हैं। अब यहाँ एक बात यह है समस्या की कि अशुद्ध का सहारा लेने से भी काम नहीं बनता, पर का सहारा लेने से भी काम नहीं बनता और निज है अशुद्ध तो फिर किसका सहारा लें कि इसका काम बनने लगे। वहाँ बस एक यह बात समाधान की आती है कि भले ही यह निज आत्मा इस समय अशुद्ध है, रागद्वेषरूप परिणमन भी करता है किन्तु प्रत्येक पदार्थ का स्वरूप अर्थात् सत्त्व त्रिकाल शुद्ध रहता है, अर्थात् किसी भी पदार्थ के सत्त्व में किसी अन्य पदार्थ का सत्त्व प्रवेश नहीं करता है। भले ही बंधन हो, संयोग हो, बड़ा निमित्तनैमित्तिक भाव भी हो तिस पर भी किसी पदार्थ के सत्त्व में किसी अन्य पदार्थ का सत्त्व नहीं लगा रहता है। उस शुद्ध निजस्वभाव का आश्रय लेने से शुद्धता प्रकट होती है।

**ज्ञान की बेरोकटोक गति—** सहज सिद्ध निजस्वरूप का हम ज्ञान तो कर सकते हैं। ज्ञान को रोकने में कोई समर्थ नहीं है। जैसे आप यहाँ बैठे हैं, आपके घर में किसी कोठरी में सन्दूक के भीतर कोई छोटी पोटली रक्खी है, उसमें आपकी कोई कीमती चीज बँधी है तो आप उसे यहाँ बैठे-बैठे जान सकते हैं, आपके जानने में भीत, किवाड़ आदि कुछ भी रोक नहीं सकते। इसी तरह हम अपने आत्मस्वरूप को जानना चाहें तो यद्यपि बीच में शरीर इन्द्रिय के आवरण हैं, रागद्वेष के परिणमन हैं, ये सब बीच में आड़े आते हैं तिस पर भी ज्ञान को कोई रोक नहीं सकता है।

**आत्मध्यान संसारनाशक—** हम आप विषयों में रमते हैं, वहीं अटकते हैं इसी कारण अपने शुद्ध स्वरूप को नहीं जान पाते हैं। फिर भी अर्थात् पर्याय अशुद्ध होने पर भी अन्तःस्वरूप स्वभाव को निरखिये तो वह शुद्ध है। अपने ज्ञान से एक ऐसी जानकारी बना सकते हैं कि केवल अपने स्वरूप से मैं कैसा हुआ करता हूँ। यों सहज त्रैकालिक स्वतःसिद्ध अन्तस्तत्त्व का आलम्बन ही अपने निजस्वरूप का आलम्बन है, इसमें यह सामर्थ्य है कि क्लेशों को, चिन्ताओं को, बन्धनों को, सर्वसंयोगों को इन सबको दूर कर सकते हैं। तो उस शुद्ध आत्मस्वरूप के ध्यानरूपी जहाज का आलम्बन लेने से यह संसारसागर तिर लिया जाता है।

### श्लोक-257

मोक्षः कर्मक्षयादेव स सम्यग्ज्ञानतः समृतः।  
ध्यानसाध्यं मतं तद्धि तस्मात्तद्धितमात्मनः॥257॥

**मोक्ष की सिद्धि का उपाय—** मोक्ष कर्मों के क्षय से ही होता है, और कर्मों का क्षय सम्यग्ज्ञान से ही माना गया है। और, सम्यग्ज्ञान ध्यान से साध्य माना गया है। इस कारण ध्यान ही आत्मा का हित है। आत्मा का परमहित तो वह अवस्था है जहाँ आकुलता नहीं रहती। आकुलता मोक्ष में नहीं है। ऐसा सोचते समय कोई स्थान विशेष का ख्याल न रखना कि तीनों लोक में सबसे ऊपर जहाँ सिद्धभगवान विराजे हैं, उस स्थान का नाम मोक्ष है। और उस जगह में सुख पडा हुआ है ऐसी दृष्टि नहीं करना है, क्योंकि ऐसी करने में इस दृष्टि ने पर का आलम्बन किया, परपदार्थ को विषयरूप किया, तो पर का जहाँ आलम्बन लिया हो वहाँ तो यह मोक्षरूपकार्य नहीं हो सकता है। एक बात, दूसरी बात यह है कि जिस मोक्षस्थान को लक्ष्य में लेकर कोई यह ख्याल करें कि मोक्ष में अनन्त सुख है तो उस मोक्ष के स्थान में जिसको कि हमने कल्पना करके माना है उस स्थान में अनन्त निगोदिया जीव भी पड़े हुए हैं। देखिये वह स्थान या तो बहुत विशुद्ध परमशुद्ध आत्माओं से भरा है या तो मलिन आत्माओं से भरा है। बीच में लोग वहाँ नहीं हैं। मध्य श्रेणी के लोग वहाँ नहीं हैं वहाँ निगोद जीव हैं, एकेन्द्रिय जीव हैं या सिद्ध परमात्मा हैं। तो मोक्षस्थान में सुख है, यह बात नहीं कही जा रही है किन्तु जो मोक्ष अर्थात् सब परभावों से छुटकारा होकर अपने आपका जो प्रताप वर्तमान है उसका नाम मोक्ष है। ऐसा मोक्ष कर्मों के क्षय से ही उत्पन्न होता है। द्रव्यकर्म के क्षय से वह मोक्ष प्राप्त होता है। और, कर्मों का क्षय होता है सम्यग्ज्ञान से।

**सद्ज्ञान ही मुक्ति का कारण—** पर की ओर लगाव होना ही कर्मों का आना है। विशेष उन्हें बन्धन होता है, और पर जैसा है, जितना है, जिस रूप है, उस रूप पर को माना जाय और अपने स्वरूप को माना जाय और इस शुद्ध मान्यता के कारण जो पर से उपेक्षा हो जाती है, उदासीनता होती है और अपने आपका ही

आलम्बन रहता है, उस प्रक्रिया से कर्मों का क्षय होता है। यह कर्मों का क्षय सम्यग्ज्ञान के प्रताप से होता है। सम्यक् मायने सही ज्ञान, सही जानकारी।

मुक्ति ध्यान के द्वारा साध्य है। देखिये ज्ञान से ध्यान की सिद्धि है और ध्यान से ज्ञान की सिद्धि है। प्रथम तो ज्ञान से ध्यान में सिद्धि का काम बना। कुछ हम जानते होंगे तब तो ध्यान में लग सकते हैं।

**ध्यान की ज्ञानविकास में प्रधानता—** लेकिन फिर ध्यान के द्वारा ही ज्ञान के उत्कृष्ट विकास की सिद्धि होती है। तो ऐसा विकास शुद्ध ज्ञाताद्रष्टा रहनेरूप परिणमन यह ध्यान द्वारा साध्य है। अर्थात् ध्यान से ज्ञान की एकाग्रता होती है और उस ही में सर्व कल्याण है। इस कारण यह अपना निर्णय रखिये कि ध्यान ही आत्मा का हित है। कुछ अपने आपके स्वरूप की ओर जानने लगे, उसका ध्यान करते रहें तो हमारा उसमें हित है। वैसे ही हमारा क्लेश दूर हो सकता है। यों ध्यान के प्रकरण में मोक्षपुरुषार्थ की बात कही जा रही थी। उस मोक्ष के लिए हमारा क्या उद्यम होना चाहिए सब कुछ एक युक्तिपूर्वक बताना यह सब ध्यान से सिद्धि हो सकती है। इस कारण इस प्रकरण में ध्यान की ही साधना का उपाय बतावेंगे। ध्यान के क्या अंग हैं, ध्यान की क्या विधि है, ध्यान में आत्मा की क्या स्थिति होती है, यह सब वर्णन किया जायगा जिससे ध्याता ध्यान करते जायें और उन चिन्हों को निरखकर यह समझ जायें कि हम सही मार्ग से अपने ध्यान में बढे चले जा रहे हैं। इसके लिए आचार्यदेव ध्यान का युक्तिपूर्वक वर्णन करेंगे।

## श्लोक-258

अपास्य कल्पनाजालं मुनिभिर्मोक्तुमिच्छुभिः।  
प्रशमैकपरं नित्यं ध्यानमेवावलम्बितम्॥258॥

**कषायों के विजेता मुनि के ही ध्यान की योग्यता—** मुक्ति की इच्छा करने वाले पुरुषों ने मुनिराज ने समस्त कल्पनाजालों को त्यागकर एक ध्यान का ही आलम्बन लिया है। जैसे गृहस्थों की चर्या के सम्बन्ध में कोई पूछे तो वहाँ बहुत विशुद्ध चर्या करेंगे। आजीविका के प्रसंग में और धर्मसाधना के प्रसंग में और व्यवस्था के प्रसंग में भिन्न-भिन्न प्रकार की चर्या मिलेगी, किन्तु जब पूछा जाय कि जो मुमुक्षु मुनिराज हैं उनकी खास चर्या क्या है तो उत्तर केवल एक मिलेगा, विशुद्ध ध्यान। उन मुनिराज ने चित्त की स्थिरता करने वाले ध्यान और अपने आत्मा के स्वरूप का अवलम्बन करने वाला ध्यान किया है, यही उनकी चर्या थी, जो मुनिराज एक कषायों की मंदता के लिए अहर्निश तत्पर रहते हैं उससे ही ध्यान बनना सम्भव है।

**ध्यान की व्यापकता—** लोक में प्रत्येक जीव केवल ध्यान बनाये रहते हैं। संसारी जीव कोई भी ऐसा नहीं है जो ध्यान से खाली हो। वैसे साधारणतया तथा जिनके मन भी नहीं है, एकेन्द्रिय है उनके भी ध्यान लगा है।

आर्तध्यान बताया है। मन नहीं है फिर भी आर्तसंज्ञा उनके चलती रहती है। और ध्यान की विशेषता और ध्यान का व्यवहार तो संज्ञी जीवों के ही हैं। जब तक यह मन स्थिर नहीं रहता तब तक यह जीव विभिन्न उपयोग बनाता है और कर्मबन्ध करता है।

**आशय की विशुद्धि की चित्त की स्थिरता में मुख्यता—** चित्त का स्थिर होना वास्तव में तब ही सम्भव है जब आशय विशुद्ध हो। जिस ध्यान में परपदार्थों का आलम्बन लिया है वह ध्यान स्थिर नहीं रह सकता क्योंकि जिस पर का ध्यान किया वह पर मिटेगा। प्रथम तो यह ध्यानपर्याय तो मिटने वाली चीज है और फिर ध्यान का विषयभूत जो परपदार्थ हैं, जो परिणमन चिन्तन किया है वह भी मिटने वाला है साथ ही परपदार्थ भिन्न है, जब रहें रहें, न रहें न रहें। तो ऐसी स्थिति में चित्त कैसे एकाग्र रह सकता है। चित्त की एकाग्रता वहाँ ही सम्भव है जहाँ मन, चित्त अथवा उपयोग केवल स्व का विषय किया है। जहाँ आत्मा का ही ध्यान रखता हो। तो इतना निश्चित हुआ ना कि जिसका ध्यान किया जा रहा है वह स्वरूप का ध्यान किया जा रहा है वह स्वरूप अविनाशी है। तो विषय की ओर से तो विश्वास है कि हमारा ध्यान भंग नहीं हो सकता। अब ध्यान भंग होता है, चित्त अस्थिर होता है तो वह हमारी कमजोरी से हमारी ओर से होता है। परपदार्थों के ध्यान से चित्त की स्थिरता न होने से एक तो स्वयं कमजोरी है, स्वयं इच्छावान है और फिर जिन पदार्थों का ध्यान किया जा रहा है वे पदार्थ पर हैं, विनाशीक हैं। लेकिन आत्मा के ध्यान में पर की ओर से होने वाली विडम्बना न रहेगी। अब रहा केवल अपने आपकी ओर का भाव। खुद में कोई परिणमन चल रहा है तो विषयभूत आत्मतत्त्व स्वयं होता हुआ भी और अविनाशी होता हुआ भी वह स्थिर नहीं रह सकता। इससे ध्यान की एकाग्रता के लिए आत्मा का ध्यान ही एक विशेष सफल हो सकता है।

तत्त्वज्ञान के प्रसाद से ध्यान की सिद्धि— अब रही अपने ओर की कमी। तो तत्त्वज्ञान के प्रसाद से हमारा ध्यान स्थिर हो सकता है। तो जो मुमुक्षु साधुजन हैं उनकी केवल एक ही यह चर्या है रात दिवस। यद्यपि शारीरिक धर्म के कारण उन्हें समितियों का भी पालन करना पडा है। और उसमें अनेक प्रवृत्तियाँ भी करनी पड़ती हैं, फिर भी उनका आन्तरिक आचरण भीतरी चर्या की बात पूछो तो एक ही उत्तर आयगा कि उन्होंने ध्यान का आलम्बन लिया है। और, ध्यान के आलम्बन की ही मुनिराज की दिनचर्या है, और जब कभी भी यह व्यवहारचारित्र में लगते हैं, स्वाध्याय, उपदेश, शिक्षा, दीक्षा आदिक में लगते हैं वहाँ भी प्रयोजन मूल एक ही है, चित्त एकाग्र रहे, ध्यान विशुद्ध रहे। उस विशुद्ध ध्यान की प्राप्ति के लिए ही समस्त उद्यम किए जाते हैं, कराये जाते हैं। तो जिन्हें अपना ध्यान विशुद्ध बनाने की भावना जगी है जो कि एक मुक्ति का कारण है तो उनका यह कर्तव्य है कि ऐसा भेदविज्ञान निरन्तर बनाये रहें जिसके प्रसाद से कल्पनाजाल न उठ सकें। जहाँ कल्पनाओं का जाल समाप्त होगा वहाँ ही ध्यान सिद्ध होगा।

## श्लोक-259

मोहं त्यज भज स्वास्थ्यं मुञ्च सङ्गान् स्थिरीभव।  
यतस्ते ध्यानसामग्री सविकल्पा निगद्यते॥259॥

**भेदविज्ञान ही मोह के नाश का उपाय—** हे आत्मन् ! तुझे यदि ध्यान में सफलता प्राप्त करने की इच्छा हुई हो तो पहिले अपने आपकी ठीक तैयारी बना, क्योंकि विधिपूर्वक जो भी कार्य किया जाता है उस कार्य में सफलता मिलती है। तो अपनी तैयारी बनाने के लिए तुझे क्या करना चाहिए? प्रथम तो मोह को छोड़ो श्रोता की ओर से एक जिज्ञासा हो सकती है कि एकदम सारी कठिन बात कह दें वही तो कठिन है और उसी के लिए हम सुनना चाहते हैं। तो इतनी कठिन चीज सबसे पहिले बता दी, मोह छोड़ो, तो हम तुम्हें ध्यान के विषय में कुछ विवरण सुनायें। वक्ता की ओर से तो यह बात ठीक लग रही है। जब तक चित्त से मोह न हटेगा तब तक ध्यान के सम्बन्ध में कुछ भी कहना, बताना, सुनना सब बेकार रहेगा। क्योंकि चित्त में तो बसा हुआ है मोह। ध्यान की बात कौन सुने? लेकिन ध्यान रखना चाहिए कि मोह को छोड़ देना कठिन बात नहीं है। सिर्फ एक दृष्टि नहीं, अथवा सत्संग नहीं मिला, यदि उस प्रकार की वृत्ति बनना प्रारम्भ हो तो विदित हो जायगा कि मोह का परित्याग करना बहुत सुगम काम है। मोह के छोड़ने में कोई परिश्रम नहीं करना है किन्तु पदार्थ कितना है, इतनाभर जानना है, पदार्थ कितना है इस जानने में ही वे सब बातें आ जाती हैं जिससे मोह छूट जाता है। जिन परिवारजनों से, मित्रजनों से कुछ प्रीति मोह उत्पन्न होता है उनके सम्बन्ध में इतनी जानकारी रखना ही चाहिए कि यह आत्मा इतना है अर्थात् इसका द्रव्य, इसका क्षेत्र, इसका परिणमन, इसका गुण इसमें ही है, इससे बाहर नहीं है, वह आत्मा अपने ज्ञान आनन्द दर्शन शक्ति आदिक गुणों से युक्त है। इस आत्मा में उन ही अमूर्तगुणों का निरन्तर परिणमन चलता है। इसमें किसी दूसरे का प्रवेश नहीं है।

**वस्तुस्वरूप निरखने की कला में मोह का परिहार—** सत्त्व के मायने ही यह है कि मैं परिपूर्ण हूँ और अपने आप हूँ। जब सभी पदार्थ परिपूर्ण है तो किसी का किसी में प्रवेश का कोई सवाल ही नहीं रहा। तो ये सब पदार्थ जिनसे व्यवहार चल रहा है परिपूर्ण है, ऐसी दृष्टि बने उसी में मोह का परित्याग हो गया। यह बात करके जानी जा सकती है। कोई भी काम हो जब उस ओर लग जाते हैं करते हैं तो वह काम सुगम हो जाता है और सिद्ध हो जाता है। जिसके ऐसी दृष्टि बन रही हो कि पदार्थों को निरखकर सीधा यों ही समझते रहें कि ये पदार्थ इतने हैं, इसके ये प्रदेश हैं, इनमें ये रहते हैं, इनमें ही इनका परिणमन है। इस तरह से पदार्थों के निरखते रहने की कला उत्पन्न हो जाय वहाँ मोह का फिर क्या काम है? पदार्थ का स्वरूप निरखने की कला जब तक नहीं जगती है तब तक मोह का परित्याग कठिन है और मोह जब तक न

छूटे तब तक ध्यान का विवरण सुनो स्वभाव की बात, एकाग्रता की बात धर्म की बात सुनो, सुगमता से तो सफल हो नहीं सकते। सफलता तब होगी जब मोह का परित्याग करके सुनें। तो हे आत्मन् ! पहिली बात तो यह समझ कि तू संसार के मोह को छोड़, सच्ची बात की जानकारी बनाये रह, इससे बढ़कर और कोई विभूति नहीं। जो लोग ऋद्धियों सिद्धियों की वाञ्छा रखते हैं और अनेक प्रकार से सिद्ध करके अथवा छल करके कोई चमत्कार दिखाते हैं उनसे तो आत्मा का क्या हित है। सबसे बड़ी सिद्धि तो वह है जिसका फल अनाकुलता हो। जीव का मूल प्रयोजन अनाकुलता है। उस अनाकुलता की सिद्धि जिस समृद्धि से वही ऋद्धि सिद्धि समृद्धि है। यह बात पदार्थ की यथार्थ जानकारी बनाये रहने से प्राप्त होती है। दुनिया तुम्हें जाने न जानें, माने न माने इससे तुममें क्या अन्तर होता है, किन्तु अपने आपमें यदि बहिर्मुख जानकारी चलती हो तो उससे हो तो उससे संसारभ्रमण का फल मिलता है और न अन्तर्मुखी वृत्ति चलती है तो बन्धन के छोड़ने का वहाँ आनन्द मिलता है। मोह का त्याग करना कठिन बात नहीं है, अतिसुगम बात है। पर इस ओर दृष्टि हो, चित्त में भाव हो तो यह बात सुगम है। इस लोक में यथार्थ जानकारी बनाये रहने के समान कोई ऋद्धि सिद्धि नहीं है। एक राज्य पा लिया, आकुलता तो नहीं मिटी। कौनसी बड़ी बात मिल गयी, करोड़ों का धन पा लिया तो उससे समता शान्ति तो नहीं मिली। कौनसी विभूति पायी। सभी ओर की बातों में घटाते जाइये जिससे अनाकुलता मिले उससे बढ़कर विभूति और कुछ नहीं है। वह विभूति मिलती है मोह रागद्वेष के दूर होने से और, मोह रागद्वेष दूर होना तब सम्भव है जब पदार्थ की यथार्थ जानकारी बनी रहे।

**ध्यानसिद्धि के अर्थ ज्ञानजागृति के परिग्रहसंगत्योग की आवश्यकता—** लोक में कोई लोग तो ऐसे होते हैं कि 5 मिनट बाद सही बात दिमाग में आती है, किसी के एक मिनट बाद ही सही बात दिमाग में बैठ जाती है, किसी के 1 घंटा बाद किसी के 2 दिन बाद सही बात दिमाग में बैठ पाती है, पर ज्ञानी पुरुष तो ऐसे हैं कि जिस समय कर रहे हैं उसी समय सही बात दिमाग में बैठ जायगी। तो सही बात की जानकारी होने में पूर्वकर्मविपाक के उदय से अपराध भी कुछ हो रहे हो तब भी यह अन्तःअनाकुलता का साधन है, जानकारी का तो इतना विशुद्ध प्रताप है। सही जानकारी बना और मोह को छोड़। मोह करना बड़ा आसान लगता है। घर में ही तो रह रहे हैं। चाहे जितना मोह करें, कोई रोकने टोकने वाला नहीं, कोई अड़चन नहीं, बड़ा सुगम लग रहा है मोह करना, लेकिन इसमें विडम्बनाएँ कितनी भरी हैं, उसका फल है यह सारा संसार। जन्ममरण होना, वियोग होना, कहीं के कहीं पैदा हो जाना, ये सारी विडम्बनाएँ मोह करने से ही हो रही हैं मोह करने के समान और कोई विपदा है क्या? अपना है कुछ नहीं फिर भी उसी में लगे जा रहे हैं तो हे आत्मन् ! तुझे अनाकुलता की यदि चाह है तो देख— अनाकुलता मिलेगी आत्मध्यान के प्रताप से और आत्मध्यान बनेगा यथार्थ जानकारी से, पर उस आत्मध्यान को बनाने के लिए उसकी बात हृदय में धारण करने के लिए पहिले तैयारी यह होना चाहिए कि तू मोह को छोड़ दे। और, दूसरी बात सुन, परिग्रह का परित्याग कर। यथार्थ जानकारी होने के पश्चात् भी अर्थात् मोह छूटने के पश्चात् भी संग का, परिग्रह का जब तक सम्बन्ध

है तद्विषयक विकल्प का होना अर्थात् रागविकल्प का बनना ये सब भी ध्यान में बाधक है। जैसे जिसकी फोटो उतारी जाती है तो फोटो उतारने वाला फोटो उतारने से पहिले तैयारी में कहता है ना, जरा ऊपर सिर करो, थोड़ा बाये मुड़ो, सामने देखो ऐसे ही आचार्यदेव ध्यान की सिद्धि कराने का यत्न कर रहे हैं। तो पहिले यह तैयारी करा रहे हैं कि सावधान हो, तुझे ध्यान चाहिए ना, तो पहिले मोह को छोड़। हाँ साहब छोड़ दिया। इतनी जल्दी छोड़ दिया। क्या है, यथार्थ जानकारी हुई मोह छूट गया। तो अब संगपरिग्रह को छोड़। ये भी तेरे राग और विकल्प के कारण बनते हैं। इस तरह से तू अपने को स्थिर कर, फिर चित्त को स्थिर करके सुना। तेरे लिए अनेक भावों सहित ध्यान की सामग्री बतायी जा रही है।

### श्लोक-260

उत्तितीर्षुर्महापङ्कजजन्मसंज्ञादुरुत्तरात्।  
यदि किं न तदा धत्से धैर्यं ध्याने निरन्तरम्॥260॥

संसारसंकटों से मुक्ति पाने के लिए आत्मध्यान में धीरता धारण करने का उपदेश— सावधानी बनाने के लिए फिर भी कुछ उपदेश दे रहे हैं। हे आत्मन् ! यदि तू कष्ट से पार करने योग्य इस संसाररूपी कीचड़ से निकलने की चाह करता है तो तू ध्यान में निरन्तर धीरता क्यों नहीं धारण करता? कोई पुरुष किसी कीचड़ में फँस गया हो तो जो बड़ा कठिन है तो घबड़ाने रोने से तो काम न चलेगा। तू धैर्य रख, निकलेगा, धीरे-धीरे विधिपूर्वक प्रयोग से निकल आयगा। ऐसे ही तू संसाररूपी कर्दम में फँस गया है जो बड़ी कठिनता से पार किया जा सकता है। तो तू धैर्य रख और देख इस संसारसागर से पार होने की विधि आत्मध्यान है। उस आत्मक्रिया की प्रक्रिया में तू धैर्यपूर्वक गम्भीरता से अपना पुरुषार्थ कर, इसके सिवाय अन्य कोई उपाय नहीं है कि इस संसाररूपी कीचड़ से यह आत्मा निकल सके। जब अन्तर्दृष्टि करके भीतर निहारो तब विदित होगा कि अहो ! इसका तो बाहर में कुछ भी नहीं है। यह तो यह ही है। ये जो चौकी, दरी चटाई, तखत, पुस्तक आदि हैं ये तो कभी लड़ते झगड़ते नहीं दिखते। ये भी तो सत् पदार्थ हैं, अस्तित्व इनका भी है, ये क्यों नहीं एक दूसरे पर हावी बनते हैं मालिक बनने के लिए। तो जीव भी तो एक सत् है। वह भी तो पदार्थ है, यह भी किसी का अधिकारी नहीं। पर चूँकि यह ज्ञानवान है, जानकारी मिली है इस कारण अपनी इस सुविधा का दुरुपयोग कर रहा है।

दृष्टान्तपूर्वक मोह में ज्ञानकला के दुरुपयोग का कथन करते हुए दुरुपयोग न करने की प्रेरणा भरा उपदेश— जैसे गरीब लोग होते हैं वे भी घर में रहते हैं, और थोड़ा-थोड़ा वे फाल्तू बेकार की बातों में रहते हैं लेकिन उनमें साहित्यिक कोई कला नहीं है, बुद्धि विकास नहीं है। तो उनकी एक साधारण ढंग से कि एक धर्म

विरुद्ध बात चलती रहती हैं विषयसेवन समझ लीजिए। पञ्चेन्द्रिय के विषयों का सेवन देहातीजन करते हैं और अमीर लोग धनिक लोग जो थोड़ा पढ़ लिख गये हों, कुछ विद्या भी आ गई है, कुछ साहित्यिक कला आ गयी है, कुछ अलङ्कार जान लिया है, कुछ छंद शास्त्र जान लिया है, कुछ बोलने की भी एक शैली आ गयी है। अब यह पढ़ा लिखा चतुर इन साहित्यिक कलाओं को इन प्रतिभावों को विषयसेवन में निरन्तर लगाये रहता है। तो कम पढ़े लिखे लोग भी इन्द्रिय साधन करते हैं उनकी अपेक्षा यह पढ़ा लिखा अधिक भोग उपभोग में लगता है। तो ज्ञान मिला ना कुछ, इसलिए उस पढ़े लिखे का ढंग उन देहातियों से भी बढ़कर गजब का हो जाता है। तो ये अचेतन पदार्थ हैं, इनका भी कोई दूसरा पदार्थ कुछ नहीं है। मगर इनमें जानकारी नहीं है तो ये सीधे सादे पड़े रहते हैं, परिणमन करते रहते हैं किन्तु इन संसारी प्राणियों में एक जानकारी लगी है, एक असाधारण गुण है, सो ये मोह करके उस जानकारी का दुरुपयोग कर रहे हैं। अमुक मेरा है। अमुक में मेरा नाम है, ये अचेतन इस दृष्टि में हमसे ज्यादा अच्छे हैं, ये बेचारे नाम के लिए कूदते फांदते तो नहीं है, अपना सम्मान अपमान तो नहीं महसूस करते हैं। स्वरूपदृष्टि से देखो तो इस आत्मा को भी कूदने फांदने का काम न था और सम्मान, अपमान, नाम, यश, मोह इनका भी काम न था, लेकिन जानकारी की कला पायी है सो इस कला का दुरुपयोग यह संसारी प्राणी कर रहा है। तो देख आत्मन् तू निराकुलता के साधनभूत ध्यान की सिद्धि में सफल होना चाहता है तो तू मोह छोड़, संग छोड़ और ध्यान की साधना के लिये तू धीरतापूर्वक उधम कर। इस प्रकार ध्यान के प्रकरण में ध्यान की विधियाँ बताने से पहिले एक सावधानी कराई गयी है।

## श्लोक-261

चित्ते तव विवेकश्रीर्यद्यशङ्का स्थिरीभवेत्।

कीर्त्यते ते तदा ध्यानलक्षणं स्वान्तशुद्धिदम्॥261॥

विवेकीजनों के लिए हृदयशुद्धिकारक ध्यानलक्षण का कीर्तन— हे भव्य पुरुष ! यदि तेरे मन में सन्देहरहित विवेकरूपी लक्ष्मी स्थिर हुई है तो मन की शुद्धता को देने वाले ध्यान को हम लक्षण कहते हैं। ध्यान की सिद्धि के लिए मन को पवित्र बनाना आवश्यक है, इसलिए कई श्लोकों में पहिले भी ध्यान की योग्यता उत्पन्न करने के लिए सावधानी की है और अब यह कह रहे हैं कि यदि निःसन्देह विवेक तुम्हारे चित्त में स्थिर हुआ हो, निज को निज पर को पर जानने का प्रकाश आया हो, जो भी ज्ञान में आये उस तत्त्व का स्वरूप अपनी झलक में ले सकता हो तो तेरे लिए कुछ ध्यानलक्षण कहते हैं। अब चित्त सन्देहरहित और स्थिर होता है तभी तो कहे हुए वचनों का ग्रहण होता है, अथवा उसकी प्रतीति होती है, इस कारण मन को पवित्र बनाना प्रथम आवश्यक है। पर से छूटकर अपने आपमें मग्न हो सकने का ध्यान बनाने के लिए चित्त

काम, क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह इनसे रहित हो और कम से कम मोहभाव से तो सर्वथा रहित हो अर्थात् सम्यग्ज्ञान का प्रकाश हो और कषायें मंद हों तो ध्यान की बात अपने हृदय में धारण करने का पात्र होता है।

## श्लोक-262

इयं मोहमहानिद्रा जगत्त्रयविसर्पिणी।

यदि क्षीणा तदा क्षिप्रं पिव ध्यानसुधारसम्॥262॥

**अज्ञान महानिद्रा**— यह अज्ञानरूपी महानिद्रा जो तीन लोक में फैलने वाली है यदि तेरी नष्ट हो गयी हो तो तू ध्यानरूपी अमृत रस का पान कर। अज्ञान को महानिद्रा बताया है। अब जो कुछ जानकारी चल रही है, अज्ञान में विकल्प चल रहे हैं वह सब है स्वप्न जैसी दशा की नींद, और स्वप्न आता है तो अज्ञान की ऐसी नींद ली जा रही है। और जो कुछ विकल्प उठ रहे हैं, जो कुछ माना जा रहा है वह स्वप्न लिया जा रहा है। आँख की नींद कुछ समय के लिए है और अज्ञान की नींद बहुत लम्बे काल के लिए है। जैसे आँखों की नींद में स्वप्न में देखी हुई बात केवल स्वप्न के समय सही लगती है, पर निद्रा टूट जाय तो वह बात गलत मालूम होती है इसी प्रकार इस अज्ञान की नींद में जो कुछ माना जा रहा है और बड़ा श्रम किया जा रहा है ये सब बातें सही और चतुराई भरी लगती हैं, किन्तु अज्ञान की निद्रा भंग हो, स्वप्न का यथार्थ परिज्ञान हो तो यह सब असत्य मालूम होने लगता है। तो जैसे नींद टूट जाने पर फिर सही बोध होता है—ओह जो मैं देख रहा था वह सब झूठ था, कुछ भी न था, केवल एक स्वप्न था। सो कभी तो स्वप्न लेने वाला पुरुष जगने पर खुश होता है और कभी विषाद मानता है। यह आँखों की नींद की बात कह रहे हैं। कोई दुःसह स्वप्न देख रहा है, उसमें वह पीड़ित हो रहा है—मानो ऐसा कोई स्वप्न आ जाय कि मैं तालाब में गिर गया, और मुझे मगर खाने के लिए दौड़ रहा है, शरीर का कुछ हिस्सा दबा लिया है तो ऐसे स्वप्न में बड़ा बेचैन होगा, और उसे यह स्वप्न आ जाय कि मेरे खूब वैभव है, बड़े सुख साधन मिल गए हैं तो वह स्वप्न में बड़ा खुश होता है। तो ऐसी स्थिति में आँखों की नींद खुल जाय और यदि वह अज्ञानी है तो वह दुःखी होगा, अब कुछ भी नहीं रहा, और आँखें मीचकर वह कोशिश करेगा कि फिर वह रंग ढंग मिल जाय। तो यहाँ भी हम आप अज्ञान की नींद में खोटे स्वप्न देख रहे हैं, ज्ञाननेत्र खुलने पर अर्थात् अज्ञाननिद्रा भंग होने पर सही पता पड़ता है— और वह सब झूठा था, व्यर्थ का झमेला था, वह तो अपने सत्यस्वरूप का दर्शन करके आनन्द पाता है।

अज्ञान महानिद्रा भंग होने पर ही आत्मस्वरूप के सुध की संभवता— देखो भैया ! कषायसहित होना आत्मा का स्वरूप नहीं है और कषायरहित होना भी आत्मा का स्वरूप नहीं है, कषायसहित थे, अब कषायें नहीं रहीं, एक इस विशेषता को बताया, पर आत्मा के स्वरूप को छुवा कहाँ? आत्मा का स्वरूप निषेधरूप नहीं है, वह है विधिरूप। आत्मा में क्या है उसे बतावे तो स्वरूप आये, क्या नहीं है ऐसा बताने से स्व का रूप नहीं आया, वह एक विशेषता बतायी गयी है, तो आत्मा का स्वरूप न कषायसहित हुआ और न कषायरहित हुआ। फिर क्या हुआ? तो जैसे प्रसिद्ध बात है, बताया गया है, कह दिया जाय, आत्मा का स्वरूप ज्ञान है। अभी थोड़ी कसर रह गयी। यहाँ आत्मा कोई अलग पदार्थ है और उसका स्वरूप उसका ज्ञान उसका गुण उसमें है, ऐसा भेदीकरण हो गया, आगे चलो— आत्मा का स्वरूप ज्ञायकता है। यद्यपि ज्ञान कहने में कोई अन्य बात नहीं कही गई, लेकिन ज्ञायकता कहने में ज्ञान को बताने की अपेक्षा कम भेद कला है। जैसे अहिंसा और अहिंसकता। अहिंसा करने वाले का भाव उसका नाम है अहिंसकता। और अहिंसा क्या हुई? वही अहिंसा हुई। फिर भी एक धर्म का नाम लेकर फिर भेद बताने में कुछ भेद कम हुआ करता है। लेकिन भेद अब भी है। तो फिर यों कह दिया जा कि आत्मा ज्ञायक है वह न कषायसहित है, न कषायरहित है, किन्तु ज्ञायक है। तो ज्ञायक कहने पर शब्द व्युत्पत्ति के अनुसार जो बात ध्वनित हुई है वह भी भेद डालने वाली हुई। जानने वाला। अरे जो जानने का स्वरूप है वही तो है, किसी भी शब्द से बोलें वह किसी एक धर्म को बतायेगा। तब यह कहना पड़ेगा कि यह आत्मा तो वही है जो है। जो ज्ञात हो वही यह आत्मा है। यह मैं आत्मा समस्त परपदार्थों से न्यारा केवल निज ज्ञानानन्दस्वरूप हूँ, तब इसे खबर हुई अज्ञाननिद्रा टूटने पर कि मैं तो केवल ज्ञान और आनन्दस्वरूप हूँ, तब उसके सारे दुःख दूर हो गए। मैं व्यर्थ ही विकल्प करके आकुलित होता था।

अज्ञाननिद्रा का विस्तार— यह अज्ञानरूपी महानिद्रा तीन लोक में फैली हुई है। पशु, पक्षी, कीड़ा, एकेन्द्रिय, देव, नारकी, मनुष्य सब जगत में इस अज्ञाननिद्रा का प्रसार है। वह यदि क्षीण हो गई हो तो तू ध्यानरूपी अमृतरस का पान कर। जैसे एक म्यान में दो तलवार नहीं समा सकती इस प्रकार एक उपयोग में अज्ञाननिद्रा और अमृतपान की स्थिति ये दो बातें नहीं समा सकती हैं। यह जगत एक जुवा खेलने का फड़ समझ लीजिए। जैसे जुवा खेलने पर कोई जीत जाय तो भी शान्ति नहीं पा सकता, जीत गया, और दाव लगाने पर बैठेगा। यदि जीतकर वह चलने लगे तो समीप बैठे हुए लोग उसे ऐसी बातें करके शर्मिन्दा कर देंगे कि उसे फिर बैठना पड़ेगा। तो जीतने पर भी छुटकारा नहीं मिलता और हार गया तो प्रथम तो यह हारे के बाद चित्त बनाता है कि शायद अब जीत जाऊँ और हारता ही जाय। थोड़ा विवेक जगे, चलने लगे तो पास बैठे हुए लोग न उठने देंगे। वे कहेंगे बस इतनी ही दम थी, कुछ भी बातें कहकर उसे फिर उसी में लगाने का यत्न करते हैं। ऐसे ही यह संसार मायाजाल भी एक जुवा का मैदान है। पुण्य का फल पाकर लोग अपनी जीत समझते हैं और गर्व से छाती फुलाकर चलते हैं, पर शान्ति नहीं मिल पाती। वह और तृष्णा में

लगता है। यदि पाप का फल मिला, विपदा मिली तो इसमें अपनी हार मानता है। उस हार में भी यह दुःखी होता है। और हारकर भी यह मोह छोड़ना चाहे तो नहीं छोड़ पाता। ऐसा व्यवहार होता है लोक में। तो यह जगत बड़ी मुश्किल से तिरने योग्य है, क्योंकि अज्ञान की निद्रा बसी हुई है। थोड़ा अंदाज इसी से लगा लो कि कुछ स्वाध्याय करते हैं, भक्ति करते हैं, धर्मपालन करते हैं, बारबार यह शिक्षा मिलती है कि मोह छोड़ो, सब पररूप है, तुम सबसे अलग हो, स्वतंत्र हो, तृष्णा न करो, किसी में अपना सम्मान अपमान न मानो। किसी में अपना नाम यश रखने की धुनि मत रखो। अनेक बार ऐसा सुना है कि फिर भी जो व्यवहार बनता है, जो कमजोरी आती है उसे खुद अंदाज कर लीजिए। चाहते हैं यह छूट जाय, पर छूटता नहीं है, अथवा ऐसी स्थिति आ जाती है कि यह छोड़ना नहीं चाहता है। जो जिस प्रकार होने को है होता है, वही उसकी काललब्धि है। तो सोई हुई अवस्था में तू इस ध्यान अमृत को पी नहीं सकता। तू जरा अज्ञान नींद को तोड़, सबसे निराला रहने का यत्न कर।

**स्वरूप के रुचिया संत की अनुभूतिकला की सुगमता—** विविक्त अन्तस्तत्त्व की ओर जाने की विधि सिखाये से नहीं आती। जिसे अपने आपमें झुकने का आनन्द मिल गया उसे कोई नहीं रोक सकता। उसे शिवपथ से कोई नहीं डिगा सकता है। और, जब तक अन्तःआनन्द नहीं प्राप्त हुआ तब तक यह विषयों में सुख मानता है, लोगों में धर्म की बात कहे तो इसमें बड़प्पन होता है, लोक में हम कुछ अच्छी तरह से माने जा रहे हैं इन भावों से कुछ धार्मिक वृत्ति की जाती है। जब अन्तःआनन्द नहीं मिलता तो ये सब विषय ही बन जाते हैं, कोई इन्द्रिय का विषय है, कोई मन का विषय है कोई किसी प्रकार है। प्रयत्न यह हो कि हम कोई विविक्त स्थान पाकर एकान्त निर्मल किसी स्थान में सुस्थिर बैठकर अपने आपकी दया के सम्बंध में कुछ चिन्तन करके, मेरा कैसे हित हो? हमें अपनी हित प्राप्ति के लिए सदाकाल संकटों से छूटने के लिए यदि सब कुछ भी छोड़ना पड़े, मोह राग-द्वेष त्यागना पड़े उस काल के लिए हम तैयार हैं, किन्तु वह स्थिति प्राप्त हो जाय जो निःसंकट है। ऐसी तीव्र उत्सुकता जगी हो और वह अपने आपमें ध्यान लगाने का यत्न करे तो उस आनन्द के अनुभव के बाद किसी में सामर्थ्य नहीं कि उसे रोक सके। कुछ थोड़ी बहुत जानकारी के बाद चित्त में यह बात नहीं रहती है कि अभी हमारी परिस्थिति ऐसी नहीं कि घर छोड़ दें। अभी छोटे बच्चे हैं, और यह तो कोई सभ्यता नहीं है कि छोटे बच्चों को छोड़कर बैरागी बन जायें। इसमें लोग क्या कहेंगे। हमारा यह कर्तव्य नहीं है कि हम छोटे बच्चों को असहाय छोड़कर चले जायें। इसमें लोग हमें क्या कहेंगे। लेकिन वस्तुतः स्थिति यह है कि यदि अन्तःआनन्द का अनुभव हुआ है और उस कैवल्यस्थिति को पाने को दृढ़ता हुई है तो उसे कोई रोक नहीं सकता, शिवपथ पर जाने के लिए घर में कोई बाँध नहीं सकता। जब सुकौशल विरक्त हुए तो उनके स्त्री के गर्भ में ही बच्चा था। लोगों ने समझाया पर उनके चित्त में बात तो न आयी। खैर अन्त में इतना मान लिया कि जो गर्भ में हो उसे राजतिलक किया। जिसे अन्तरङ्ग में अनुभव हो जाता है उसे तो कैवल्य ही सुहाता है। बाकी तो सब दंदफंद मालूम होता है। उसका ज्ञानप्रकाश स्पष्ट सामने है कि

मैं किसी का कुछ नहीं करता, सब अपने-अपने भाग्य से सब कुछ पाते हैं। इतना स्पष्ट निर्णय होना चाहिए कि हम अपनी कमजोरी से घर में रह रहे हैं। तो देख यदि अज्ञानरूप मोह विडम्बना क्षीण हो गयी हो तो तू ध्यानरूपी अमृतरस का पान करा।

### श्लोक-263

बाह्यान्तर्भूतनिःशेषसङ्गमूर्च्छा क्षयं गता।

यदि तत्वोपदेशेन ध्याने चेतस्तदारपय॥263॥

**ज्ञान को विकार साधन बनाने पर विषाद—** यदि तत्वोपदेश सुनकर बाह्य में और अन्तरङ्ग में मूर्च्छा नष्ट हो गयी हो तो अपने चित्त को ध्यान में ही लगा। जब तक ममत्व है तब तक तू ध्यान का पात्र नहीं है। ऐसी स्थिति पाने के लिए कर्तव्य है ज्ञान का वातावरण और सत्संग। इन दो का अद्भुत प्रभाव पड़ता है। मुझे ज्ञान चाहिए मेरी ज्ञानदृष्टि निरन्तर रहो, मुझे और कुछ लोक में न चाहिए। जब कभी ज्ञान के ही प्रसंग से यह बात आने लगे कि किसी ने कोई शंका किया है तो मैं अनापसनाप धमकाकर उसके गजब का रूपक बना दूँ। लोग यह न जान सकें कि इनके प्रश्न का समाधान नहीं कर पाया है, यदि ये बातें आने लगे तो इसे यों कहना होगा कि जो ज्ञानभाव संकटों को नष्ट करने का साधन था उस ही ज्ञान को संकट जोड़ने का कारण बना डाला। जैसे कह दिया जाय कि पानी आग बुझाने का साधन है लेकिन कोई पानी से ही आग लगा दे तो यह गजब ही तो है। ऐसी ही बात समझ लेना चाहिए कि ज्ञानभाव के द्वारा तो हम संकट मोह कषायें इन सब विपदायों को नष्ट करने के लिए यत्न करें, करना चाहिए, योगीश्वर करते हैं और कोई इस ही ज्ञान के द्वारा क्रोध बढ़ाये, घमंड बढ़ाये, मायाचार करे, तृष्णा बढ़ाये तो यह कितनी खेद की बात है। हम पढ़े लिखे देहात के लोग जैसे कि प्रायः लोग दिखते हैं अपेक्षाकृत उन्हें संतोष है, उन्हें लोभ अधिक नहीं सताता। एक लखपति पुरुष करोड़ों के वैभव पर दृष्टि कहाँ डाल सकता है मुझे इतना नहीं मिला, पर देहात के लोग इतनी दृष्टि कहाँ डाल सकते हैं। वे ज्यादा दौड़ेंगे तो दो जोड़ी बैल हो जायें, इतनी खेती हो जाय, ऐसा मकान बन जाय। कुछ अपनी गोष्ठी के लोगों को देखते हैं वहाँ तक ही तृष्णा जायगी। तो तृष्णा के बढ़ाने में देखा यह ज्ञान साधन बन गया। उन बेचारों को बहुत ज्ञान नहीं है, सो ऊँची तृष्णा की बात नहीं सोच सकते। मायाचार करने के लिए भी ज्ञान चाहिए। जो भले लोग हैं, कमजोर हैं वे घमंड करने में सफल कैसे हो सकते हैं। जरासी देर में उनके भय खुल जाता है। तो मोही जीव इस ज्ञान को मायाचार का साधन बना डालते हैं। घमंड की बात देखो तो जो छोटे लोग हैं, ज्ञानशून्य हैं, कम ज्ञानी हैं वे कितना तक गर्व बनावेंगे। घमंड वे भी करते हैं, पर जो जितना जानकार है वह अपनी ऐसी दृष्टि फैलायेगा कि वह मान में भी बढ़

चढ़कर हो सकता है, और मोही जीव का ज्ञान भी क्रोध का साधन बनता है। तो जो ज्ञान हमारे कषाय संताप को शान्त करने का कारण है हम कुछ योग्यता पाकर कषायों की वृद्धि में लगे तो यह हमारे हित की बात नहीं है।

**स्वरूपविकास के लिये ज्ञानसम्बर्द्धन की भावना—** ज्ञान बढ़े ज्ञानस्वरूप की जानकारी करने के लिए, और यह मैं अपने आपमें धीरे से गुप्त तो होऊँ फिर मुझे कोई संकट न रहेगा ऐसी स्थिति का अंदाजा रखकर अपनी ओर ज्ञान को बढ़ायें तो वह ज्ञानमार्ग है, और शान्ति का साधन बन सकता है। ज्ञान पाकर बहुत-बहुत बड़ी विडम्बनाओं के काम कर सकता है यह जीव। पर वह ज्ञान ज्ञान नहीं है। सब कुछ कुज्ञान है। उस ज्ञान को ही स्वच्छ करने के लिए, स्थिर करने के लिए ज्ञान जगता है, पर ध्यान करने के लिए कुछ ज्ञान तो चाहिए। फिर ध्यान की विशुद्धि करके उस ज्ञान का सम्बर्द्धन किया जा सकता है। तो इन सब बातों के लिए यह आवश्यक है कि तू मोह को भंग कर, अज्ञान की निद्रा तोड़, बाह्य तथा आभ्यन्तर सब प्रकार की ममता को दूर कर फिर तू अपने चित्त को ध्यान में लगा। ऐसा कहने का यह प्रयोजन नहीं है कि तेरा जब तक मोह न मिटे तू उसके छोड़ने की कोशिश भी न कर। कर कोशिश, पर कभी-कभी जैसे लोकव्यवहार में एक बात को उत्कृष्टरूप देने के लिए बोला जाता है इसी तरह यहाँ भी उत्कृष्ट स्वच्छता बताने के लिए यह कहा जा रहा है कि यदि ममता मिट गयी हो तो तू ध्यान में हाथ डाल, नहीं तो छोड़े रह, इसके मायने यह नहीं कि डरे ही रहो। कोशिश तो करो मगर एक उत्कृष्टता बतायी गयी है। परिग्रह का ममत्व रहने से ध्यान में चित्त नहीं लग सकता। इस कारण यह बात कही है कि तू ममता को पहिले दूर कर फिर ध्यान लगा। तू ध्यान में सफलता पायगा। कोई कोई लोग कहते कि ध्यान में हमारा मन नहीं लगता, तो कैसे मन लगे, पर का तो मोह बसा रक्खा है। सर्वप्रथम भेदविज्ञान उत्पन्न करें, स्वरूपदृष्टि को सम्हालें, यथार्थ जानकारी रक्खें तो इस परिणति से हमारा कल्याण होगा।

## श्लोक-264

प्रमादविषयग्राहदन्तयन्त्राद्यदि च्युतः।

त्वं तदा क्लेशसंघातघातक ध्यानमाश्रय॥264॥

**विषयवासना से जीव को हितपथ के लाभ का अनवसर—** हे भव्य पुरुष !यदि प्रमाद और इन्द्रिय के विषयरूप पिशाचों से अथवा जन्तुओं के दांतों से तू छूट गया हो तो इस ध्यान का आश्रय करो अर्थात् जब तक प्रमाद और इन्द्रियों के विषयों में चित्त लग रहा है तब तक ध्यान में तेरा चित्त नहीं लग सकता। ऐसे

विषय और प्रमाद यदि तुझे रुचे तो तू ध्यान की आशा न कर। ध्यान की चाह है तो विषयों से विरक्ति धारण कर। एक विवेक पूर्वक सोचने भर की बात है। विषयों के सेवन में किसे क्या लाभ मिला, सो बतावो। 5 इन्द्रियाँ और छठामन, 6 प्रकार के विषयों का यह संसार का प्राणी चक्र लग रहा है और तड़फ तड़फकर इन्हीं विषयों में प्रवृत्ति कर रहा है। कुछ भी तत्त्व निकला हो तो अंदाज कर लो किसी भी मामले में, जहाँ बाहर के लोगों की ओर दृष्टि दी वहाँ फिर विवेक काम नहीं देता। तृष्णा बड़े, हठ बड़े, इच्छा बड़े, लेकिन केवल अपने आप पर ही दृष्टि देकर सोच लो— कामसेवन में कौनसा लाभ पाया। बल्कि मनोबल, वचनबल और कायबल ही अपना गँवाया, यह बात बहुत आयु बीतने पर तो सहज अनुभूत की जा सकती है और विवेक हो तो तत्काल भी अनुभव किया जा सकता है। बहुत रसीले स्वादिष्ट भोजन किया कितने ही बार, पर आज उसका कुछ स्वाद भी है क्या? एक भी तो स्वाद नहीं रहा। तो उन स्वादों से तूने क्या लाभ पाया? बल्कि उन बातों के पीछे अनेक आवश्यकताएँ बढ़ायी और रात दिन उनकी पूर्ति के लिए व्यग्र रहे। आज यह अनुभव कर रहे हैं कि बड़ी परेशानी है, हमारा खर्च भी पूरा नहीं चलता। आज की एक विकट स्थिति है लोगों की आर्थिक मामले में, इतने पर भी यदि कोई एक अपने आपको देखे तो कोई परेशानी नहीं। दूसरे की ओर जो देखते हैं इनके कितना ठाठ है, हमें भी तो मिलना चाहिए हमारा परिग्रह इतना बड़ा होना चाहिए, इतने महल हों, इतनी सवारी हों, इतनी अन्य बातें हों, साज श्रृंगार हों, बस उनकी ओर बढ़ते हैं और उनकी पूर्ति के लिए व्यग्र रहते हैं। यदि कोई परमार्थतः विवेकी हो तो उसका कर्तव्य यह है कि अपनी सब फाल्तू जरूरतों को मिटाये जो जरूरतें बना रखी हैं केवल एक नाम के लिए अथवा अपने विशेष आराम के लिए। आराम के लिए भी नहीं, आराम तो सब स्थितियों में मिलता है। यह तो कल्पना की बात है कि हमारा इतना ठाठबाठ न हो तो हमें आराम न मिलेगा। उनको समाप्त कर एक धर्मसाधना के लिए ज्ञानार्जन के लिए अपना जीवन लगायें और धुन हो तो केवल ज्ञानबुद्धि की जानकारी करने की, तो वह जीवन हितकारी होगा। और, शेष जीवन कैसे बीता है, सो विषयसाधनों को जिन्होंने भोगा है उनका ख्याल कर।

**मोहप्रसंग का त्याग करके संतापघातक ध्यान का आश्रय करने में कल्याण की सूचना—** इस समय भी देख लो, क्या रहा, कितना स्वाद लिया, जितने तरह के व्यञ्जन सम्भवतः हिन्दुस्तान में बनते हैं हमारा ख्याल है किसी भी देश में न बनते होंगे। और देशों के लोग मोटी-मोटी 10-5 चीजें जानते होंगे पर यहाँ एक बेसन की अधिक नहीं तो 100 चीजें भी देखने को मिल जायेंगी। और, एक ही बेसन के जो सेव बनते हैं वे भी करीब 25 किस्म के होंगे, कोई किसी ढंग का, कोई किसी ढंग का। इतनी प्रकार के व्यञ्जन शायद किसी देश में न बनते होंगे। हम तो गए नहीं पर हमारा अन्दाज है ऐसा। यह देश था भोगप्रधान, कर्मप्रधान, तपश्चरण प्रधान। सब प्रधानताएँ तो दूर हो गयी पर करीब-करीब भोग प्रधान रह गया, पुरुषार्थ करने की बात, कोई नई चीज उपजाने की बात ये बात बहुत कम रह गयी। तो आप यह देखो कि इतने रसों का स्वाद लिया, उनमें से आज क्या हाथ है? यदि मुँह में थोड़ा भी स्वाद पडा हो तो बतावो। इतना तक भी नहीं

है कि उस स्वाद के दो चार घूँट भी आज उतर जायें। तो उस स्वाद से लाभ क्या मिला? कभी-कभी इस प्रकार की धुन बन जाती है कि इत्र हो, फूल भी हों, कैसे-कैसे साज सजाया, एक सुगंध के लिए जो कि जीवन के लिए भी आवश्यक न था केवल एक शौक और मन की कल्पना थी, उनमें से आज क्या हाथ है? कितने ही सिनेमा देखा होगा, कितने नाटक कितने रूप और चलते फिरते यहाँ वहाँ लोगों को कितनी प्रकार से देखा है, पर उन रूपों के देखने के बाद क्या आज कुछ इसके हाथ भी है? कोरा अकेला ज्यों का त्यों है। तो इन विषयों में चित्त क्या गड़ाने से लाभ क्या मिला? इसे खूब खोज लीजिए। इन कानों से भी बहुत राग रागनियों की बात सुना, बहुत-बहुत संगीत गायन सुना, ये भी कुछ ज्यादा खराब नहीं हैं। मगर रागभरी बातें जिनमें दूसरों से प्रेम बढ़े खुद में प्रेम आये ऐसी कोशिश करके रागभरी बातें करना, सब कुछ कर चुके होंगे, पर आज कौनसी लाभ की बात है। बचपने से लेकर अब तक मन की कल्पनाएँ, कितने मन के विषय बनाया समझ लीजिए, बचपन में किस प्रकार से नाम की इच्छा थी, किशोर अवस्था में किस ढंग की इच्छा थी, जवानी में क्या ढंग बनाया, कल्पनाओं की कितनी उड़ाने की पर आज क्या हाथ रहा? और, मानो नाम भी फला हो, यश भी कुछ चल रहा हो लेकिन यह काम क्या देगा? अब भी क्या काम दे रहा है? इतने विशाल लोक में 343 घनराजूप्रमाण इस विशाल जगत में कहाँ के मरे कहाँ उत्पन्न हो गए। तो यह कुछ भी लाभकारी बात नहीं है तो इन विषयों में जब तक प्रवृत्ति रहे यह है सबसे बड़ा प्रमाद तब तक ध्यान में चित्त नहीं लग सकता, इस कारण ऐसा ज्ञानार्जन करें कि जिससे विशुद्धि जगे चित्त में और आत्मध्यान में उपयोग चले।

## श्लोक-265

इमेऽनन्तभ्रमासारप्रसरेकपरायणाः।

यदि रागादयः क्षीणास्तदा ध्यातुं विचेष्ट्यताम्॥265॥

रागद्वेष क्षीण करके अन्तःध्यान करने की प्रेरणा— हे आत्मन् ! यदि ये रागद्वेष तेरे क्षीण हो गए हों जो रागद्वेष अनन्त भ्रमों को उत्पन्न करते हैं ऐसे रागद्वेष यदि तेरे क्षीण हो गए हों तो तुझे ध्यान की चेष्टा करना चाहिए और रागद्वेष बने हुए हों तो ध्यान की आशा मत कर। इसमें सफल नहीं हो सकता। इसलिए पहिले इन रागद्वेषों को क्षीण कर, ये रागद्वेष क्षीण होंगे तो सहज स्वभावरूप में आत्मतत्त्व के स्वभाव और अवलम्बन से क्षीण होंगे, क्योंकि बाह्य में अनात्मतत्त्व में जहाँ-जहाँ भी उपयोग लगावेंगे वे राग बढ़ने के ही कारण बनेंगे, उनसे सिद्धि न होगी। कहाँ उपयोग लगायें जिससे कि हमारा चित्त स्थिर हो सके? अपना जो

सहजस्वरूप है केवल ज्ञानज्योति सहज सिद्ध उसमें अपना उपयोग लगायें। इससे ही सर्वरागादिक विस्तार दूर होगा।

**सहज सिद्ध स्वरूप का संस्मरण—** जो सहज सिद्ध आत्मतत्त्व का स्वरूप है वही तो जहाँ प्रकट होता है, अनावृत्त होता है वही तो सिद्ध है। सहज सिद्ध भगवान हैं जिनकी कभी-कभी आप लोग वचनों से पूजा भी कर लते हैं, सहजसिद्धमहं परिपूजते। तो सहज सिद्ध का जो एक प्रचलित अर्थ है जो सहज ही सिद्ध हो गए, कर्ममुक्त भगवान सिद्ध परमेष्ठी और सहज शुद्ध का जो मर्म है, जो सहज ही उसके साथ-साथ निष्पन्न है उसे कहते हैं सहज सिद्ध। अर्थात् उसकी जब से सत्ता है तब से ही जो बात निष्पन्न है और जिसमें न कभी कमी आती, न कभी अधिकपना बढ़ता, त्यों का त्यों है, ऐसा जो सहज सिद्ध स्वरूप है, हम आपमें कुछ भी है, अनादिकाल से है, अनन्त काल तक रहेगा, लेकिन वह इस प्रकार से गुप्त हो रहा है जैसे दूध में घी। दूध निकाला, जो दो चार सेर दूध है उसमें घी है कि नहीं? आँखों देखो कहीं दिखता नहीं, उलट-पलट करके घी कहीं नजर नहीं आता, और जो घी है वह आवृत्त है, किसी ढंग से आवृत्त है? कहीं इस तरह नहीं ढका है जैसे त्यागियों के भोजन पर कपड़ा ढक दिया जाता है चारों ओर से। उसे उघाड़ लो। दूध में घी है, और किस प्रकार से है, समझ लीजिए। इस तरह हमारा आपका सबका जो वर्तमान आत्मा है उस आत्मा का यह सहज सिद्ध मौजूद है जैसे उपाय करने से दूध में से घी प्रकट हो जाता है इसी तरह उपाय करने से, श्रद्धान, ज्ञान और चारित्र का उपाय करने से, इस आत्मा में जो सहज सिद्धरूप बसा है वह स्पष्ट प्रकट हो जाता है। जैसे उस घी को ढकने वाले जितने कण हैं उन कणों को दूर करने से घी प्रकट हो जाता है इसी तरह इस सहज सिद्ध स्वरूप को ढकने वाले जितने विकार हैं उन विकारों के दूर करने से स्वरूप प्रकट हो जाता है। यह सहज सिद्धस्वरूप देह से ढका है यों न निरखें, उसकी चर्चा नहीं है। यह देह से ढका हुआ नहीं है, खूब भीतर देख लो। देह का सम्बन्ध तो है पर ढका हुआ नहीं है। ऊपर से लगता है कि देह से ढका है। पर उस ढके की चर्चा की जा रही है जैसे कि घी दूध के अंशों से ढका है। इसी तरह से यह सहज सिद्धस्वरूप रागादिक विकारों से ढका है। वहाँ का आवरण निरखिये। एक बर्तन से दूध का घी ढका है ऐसी बात न निरखकर दूध के अंशों में से ही घी का अंश ढका है यों देखिये। ऐसे ही देह से मैं ढका हूँ ऐसा न निरखकर रागद्वेषादिक विकारों से मैं ढका हुआ हूँ। उसके बाह्य उपाय तो किए जाते हैं किन्तु अन्तर में कैसा छटाव चलता है, उस दूध में जिस छटाव से घी आसानी से प्रकट हो जाता है, दूध को जमाया, दही किया, एक ऐसी भीतर में छटाव की बात आयी, कुछ उससे यह घी ढीला हुआ, उन सब रंगों में रहकर भी ढीला हुआ। दूध को बिलोकर घी बनाने में जितनी कठिनाई पड़ेगी उतनी कठिनाई दही को बिलोकर घी बनाने में नहीं पड़ती। वह एक छटाव का ही अन्तःयत्न हुआ। और फिर ऊपरी छटाव से मथानी को मथकर छाछ के रूप में सबको निकालकर घी प्रकट कर लिया जाता है। ऐसे ही अन्तःमंथन करना होगा, उसमें ऐसा छटाव चलेगा कि प्रथम तो भेदविज्ञान का छटाव चलेगा जिससे यह बन्धन ढीला हो जायगा, फिर इसके बाद

तपश्चरण और संयम से सर्वविकारों को अलग कर यह सहज सिद्धस्वरूप प्रकट किया जा सकता है। इन सब बातों की प्राप्ति के लिए कितनी बड़ी कुर्बानी करनी होगी, तैयारी करनी होगी, उसे अंदाज करो और उसका उत्साह रखो।

रागादिक विकार को क्षीण करके शुद्ध चित्त से ध्यान करने का उपदेश— भैया ! केवल धन वैभव की तृष्णा से आप क्या अपना पूरा पाड़ लेंगे? खूब सोच लीजिए? खोने को तो दो रोटी और तन ढाकने को कपड़े चाहिए। और तो कुछ आपके काम में नहीं आ रहा, फिर तृष्णा किस बात की इतना अधिक जिसके कारण अपने चित्त को व्यग्र किया जाय और धर्मध्यान के सुन्दर अवसर को खो दिया जाय। शायद यह सोचते हो कि हम मरकर तो जायेंगे पर सब धन लड़कों को धर जायेंगे। तो प्रथम तो यह बतावो कि संसार में ये अनन्तानन्त जीव हैं। जिनकी कोई संख्या नहीं, आपकी बुद्धि ने उन अनन्तानन्त जीवों में से दो चार को छांट रखा तो आपकी बड़ी पैनी बुद्धि है, क्योंकि आपने जो कभी आपके बन नहीं सकते उन दो चार जीवों को छांटकर रख लिया है, ये मेरे हैं ऐसी मान्यता आपने बना रखी है। अरे जिन्हें आज आपने माना है पता नहीं वे पूर्वभव में आपके कौन थे। आपने जिन्हें आज पड़ोसी माना है अथवा विरोधी माना है कहीं वही आपके पूर्वभव के हितू रहे हों। कुछ विवेक तो करो, आत्मदया तो करो। अपने चित्त में तृष्णा न बसावो, तो जब तक यह व्यर्थ का राग रहेगा तब तक ध्यान में सफलता नहीं प्राप्त हो सकती। इस कारण हे भव्य पुरुष ! तू देख ले, यदि रागादिक भाव क्षीण हो गए हों तो तुझे ध्यान की चेष्टा करना चाहिए नहीं तो उसी सफाई में लगा जैसे कोई किसी भीत में चित्र बनाने का उद्यमी हो जाय तो उसे कोई मालिक वगैरह रोकता है—अरे देख तो ले अभी भीत चिकनी है या नहीं, मजबूत हो गयी है या नहीं, अगर भीत की छार खिर जायेगी तो तेरे चित्र बनाने से क्या लाभ है। अभी तू चित्र मत बना। ऐसे ही यहाँ समझा रहे हैं कि पहिले अपनी परख तो कर। तेरे आशय में मोह बसा है या नहीं? अगर बसा है तो ध्यान का यत्न न कर, तू तो मोह दूर करने का प्रयास कर। यद्यपि मोह का मिटाना भी ध्यान के प्रयास से बनेगा, किन्तु ध्यान का पात्र निर्मोह ही होता है, और उत्तरोत्तर वही बढ़ता है जो निर्मोह हो। इस कारण निर्मोहता के लिए विशेष उपदेश किया जा रहा है।

## श्लोक-266

यदि संवेदनिर्वेदविवेकैर्वासितं मनः।

तदा धीर स्थिरी भूय स्वस्मिन् शान्तं निस्पय॥266॥

संवेद, निर्वेद विवेक से वासित हृदय में ध्यानपात्रता— हे धीर पुरुष ! यदि मुझमें संवेग जगा है अर्थात् मोक्ष और मोक्षमार्ग का अनुराग है तो तू स्थिर होकर फिर अपने को अपने आपमें निरख सकेगा। जिस पुरुष का मोक्ष और मोक्षमार्ग में अनुराग होता है उस पुरुष को संसार देहों से वैराग्य रहता ही है। यदि अनुराग जगे तो धर्मात्माजनों में जगेगा, परमेष्ठियों में जगेगा, अन्यत्र तो एक जैसे काम निकालने का काम हो इस तरह घर में रहेगा या संग में रहेगा। अनुराग तो मूलतः पंचपरमेष्ठियों पर, और धर्म के साधनों पर होगा। तो देख यदि तुझमें संवेगभाव उत्पन्न हो गया हो तो अपने आपको अपने में निरख सकेगा। विवेक जगा हो अर्थात् स्वपर का भेदविज्ञान निरन्तर बस रहा हो, जैसे व्यवहार में मिले हुए, अनाजों में भिन्न-भिन्न जानकारी रहती है, यह गेहूँ है, यह चना है, यह जौ है इसी तरह मिले हुए इस पिण्ड में ऐसी ये शरीरवर्गणायें, ये कर्मवर्गणायें हैं, ये तैजसवर्गणायें हैं, ये कोई जीव है, यह विकार है, यह मुलम्मा है, इन सब बातों का जिसमें भेदविज्ञान होता है और इस भेदविज्ञान में ही जिसका मन वशीभूत रहता है वह ही पुरुष अपने आपमें अपने अन्तस्तत्त्व को निरख सकता है। जो अंतस्तत्त्व का रुचिया है उसका अंतस्तत्त्व अवश्य प्रकट होगा। परपदार्थों की रुचि करने से पर मिले या न मिले, पर अंतस्तत्त्व की रुचि करने पर अंतस्तत्त्व अवश्य रुचेगा। तो अपनी परख कर संवेग में, भेदविज्ञान में तेरा चित्त लगता हो तो तेरी दृष्टि अपने स्वरूप की ओर आ जायगी और जब अपना मौलिक अपना स्वरूप अपने आपकी दृष्टि में आयगा, समझिये कि संसार के संकट उसके सब टल जावेंगे। यहाँ के संकटों के टालने का क्या यत्न करते हो? एक संकट टाला तो दो संकट सामने हैं, और संकट भी कुछ नहीं, एक कल्पनाओं का संकट मिटाया और दो कल्पनाएँ नई खड़ी हो गई, वही संकट हो गया। तो इन कल्पनाओं का संकट मिटाना इन कल्पनाओं के द्वारा तो सम्भव नहीं है। कोई तराजू पर एक किलो जिन्दा मेंढक भला तौलकर दिखा दे। दो मेंढक धरेगा तो दो उछल जायेंगे। जिन्दा मेंढक तौले नहीं जा सकते। इसी तरह कल्पनाओं में बसकर कल्पनाओं के संकट मिटाये नहीं जा सकते हैं। अपने सहज सिद्धस्वरूप की खबर ले और सांसारिक संकट मिटाकर अपना मार्ग निर्वाध बना दें, यह ही तेरे लिए शरणभूत है।

### श्लोक-267

विरज्य कामभोगेषु विमुच्य वपुषि स्पृहाम्।  
निर्ममत्वं यदि प्राप्तस्तदा ध्यातासि नान्यथा॥267॥

देह, काम, भोग से विरक्त होकर ध्यान का लाभ लेने का अनुरोध— हे ध्यान के इच्छुक पुरुष ! काम, शरीर और भोगों से विरक्त होकर यदि तू निर्ममत्व भाव को प्राप्त होता है तो तू ध्याता है अन्यथा नहीं है। निर्ममता काम, भोग और शरीर की स्पृहा त्याग ने पर ही सम्भव है। काम का अर्थ है अनेक प्रकार की मन

की कामनाएँ। जो मन से विकार उत्पन्न होता है वह काम है। और जो इन्द्रियों के द्वारा भोगा जाय उसे भोग कहते हैं। स्पर्श, रस, गंध, रूप और शब्द और शरीर यह है ही, इन तीनों से स्पृहा छूटे तो तू ममत्वरहित हो सकता है ममत्वरहित होने पर ही तू ध्याता है। यदि चित्त इन्द्रिय के भोगों में लगा है, विषयसाधनों में लगा है तो हाँ ध्यान कैसे सम्भव है, लेकिन जिसका भोगों में भी ध्यान कम हो लेकिन शरीर को हृष्टपुष्ट देखकर खुश हो रहा हो, शरीर से अपना ममत्व रहा हो ऐसा अभिलाषी पुरुष भी ध्यान का पात्र नहीं होता। शरीर में अनुराग होगा तो उसे सम्हालने और पुष्ट करने में ही मन लगा रहेगा। किसी-किसी को देखा होगा नहाने में पौने-पौने घंटे का समय लग जाता है, फिर नहाकर साज श्रृंगार करना। इनमें ही जो लगा रहेगा वह ध्यान का पात्र क्या बनेगा। अथवा जिसे शरीर में अनुराग है रोग आदिक होने पर वह शरीर के पीछे ही अपना सारा समय लगायेगा, ध्यान क्या करेगा। जिसे शरीर में अनुराग है वह शरीर के नाश की बात सुनकर ध्यान में कैसे लगेगा? ध्यान में चित्त लगना उसी का सम्भव है जो अपने दिल को इतना कड़ा बनाये कि केवल मेरे को मेरे आत्मा से ही प्रयोजन है। इस आत्मगृह से बाहर कहीं कुछ भी बने बिगड़े तो उससे हमारा कुछ प्रयोजन नहीं है। इतनी कड़ाई जब चित्त में आये अर्थात् अपने आत्मा के प्रति इतना नम्र बने तो उसको ध्यान सम्भव है। इस कारण हे ध्यान के इच्छुक पुरुष ! यदि तुझे ध्यान की कामना है तो तू यत्न कर ज्ञान रूप यत्न कर जिसके प्रसाद से तू ममतारहित बनेगा और ध्यान का पात्र होगा।

## श्लोक-268

निर्विण्णोसि यदा भ्रातर्दुरन्ताज्जन्मसंक्रमात्।  
तदा धीरं परां ध्यानधुरां धैर्येण धारय॥268॥

जन्मसंक्रमण से निर्विण्णता होने पर ही ध्यानधुरा धारण करने की शक्यता— ध्यान का पात्र कौन हो सकता है, इस विषय का यहाँ वर्णन चल रहा है, ध्यान के लिए कैसी तैयारी होनी चाहिए जिससे अपने ध्यान में वह सफल हो सके? अपने स्वरूप का ज्ञान बने और उस सहजस्वरूप की रुचि बने तो सब काम अपने आप हो जायेंगे। एक बात यदि अपने आपकी जानकारी की मिल जाय तो कैसे क्या करना होता है वह सब सुगम समझ में आ जायगा। उसी ज्ञातास्वरूप रहने का नाम है मोह रागद्वेष का त्याग करना। संसार, शरीर और भोगों से विरक्त होना, कषायों को तजना, जितनी भी बातें त्याग सम्बंधी बतायी जावें वे सब इसमें ही गर्भित हैं। तुम मात्र ज्ञाताद्रष्टा रहो, केवल जाननहार रहो। कोई यह कहे कि केवल जाननहार रहें, संयम आदिक से क्या प्रयोजन, तो ठीक है, कुछ प्रयोजन नहीं पर अनादिकाल की वासनाओं में बसे हुए लोग कभी विवेक भी पा जायें तो एक बार सहजस्वरूप की जानकारी हो जाने के बाद ही एकदम वह ज्ञाताद्रष्टा रह सकें, यह बात अशक्य है और उसी कारण सर्वबाधायेँ टालने के लिए संयम तपश्चरण ये सब धारण किए

जाते हैं। हे धीर पुरुष ! यदि तू संसार के भ्रमणों से विरक्त है तो तू उत्कृष्ट ध्यान को धारण कर, फिर देख ले कि इस संसार के भटकनों से भय उत्पन्न होता है कि नहीं। खूब सोच करके निरखो तो यह दिखेगा कि प्रायः सभी लोगों को अभी संसार के भ्रमण से भय नहीं उत्पन्न हुआ। जैसे लौकिक कामों में हम भय मानते हैं तो किस तरह से डरते हैं और हटते हैं और संसार में हमारा जन्म मरण चलता है, नाना शरीर धारण करते हैं इन बातों से विरक्ति हुई है कि नहीं, सो तो निरख। यदि होता है वैराग्य तब तो सुगम काम है, ध्यान का धारण करना। जैसे मास्टर अनेक बच्चों को पढ़ाता है पर कोई बच्चा तो जरा सी बात सुनकर उसका पूरा अर्थ निकाल लेता है, उसे समझ लेता है और कोई बच्चे ऐसे हैं कि बारबार समझाने पर भी नहीं समझ पाते हैं। तो वहाँ उन बच्चों की प्रतिभा का अन्तर है, उनकी धारणा का, ज्ञानशक्ति का, क्षयोपशम का भी अन्तर है। तो जैसे प्रतिभा, पात्रता, क्षयोपशम होने पर उसके जानकारी का उपाय सुलभ हो जाता है ऐसे ही कोई पुरुष अपने आपकी तैयारी करके ध्यान की बात सुने भेदविज्ञान की दृढ़तम भावना से संसार, शरीर, भोगों से उपेक्षा करके अपने आपकी ओर ही बसकर समझा जाय, सोचा जाय तो उसमें इतनी पात्रता है कि ध्यान की बात को सुलभरूप से साध सकता है।

**संसार से अविरक्त पुरुषों के जन्मसंक्रमण की बाधा—** जो संसार से विरक्त नहीं है उसका ध्यान में चित्त नहीं ठहर सकता और वह अपनी सांसारिक क्रियाओं में बड़ा अभ्यस्त और चतुर बन जाता है और वहाँ भी अपनी चतुराई समझता है। आत्मदया चतुराई की बात है यह उसके चित्त में नहीं बैठती। कितने ही लोग तो स्पष्ट कहते हैं कि धर्म तो वह करे जिसके दरिद्रता हो, कष्ट हो, रोग हो, जब सब साधन मौजूद हैं तो धर्म का क्या काम। वे समझते हैं कि धर्म का प्रयोजन है सुखसाता बनाये रखना, और उसी में चलते रहना। जैसे शास्त्र सभा में किसी को नींद आने लगती है, उससे कहे भाई क्यों सोते हो? तो वह कह देगा कि सो नहीं रहा, मैं ध्यान से सुन रहा हूँ। अब वह उत्तर पहिले से ही जमा हुआ रहता है। उसे सोचने की जरूरत नहीं रहती। संसार के सभी प्राणियों में उसका चित्त ऐसा जमा हुआ रहता है कि सारे समाधान उसके पास हैं सांसारिक सुखव्यवहार में लगने के। जब तक संसार में विरक्ति न आये तब तक ध्यान का पात्र नहीं होता। प्रथम तो द्रव्यसंसार से ही विरक्त होना कठिन है। जो समागम मिले हैं उनसे भी विरक्त होना कठिन है। दूसरे जन्ममरण से व्यञ्जनपर्यायों के धारण करने रूप जो संसार है उससे विरक्त होना कठिन है। फिर अपने आपके आत्मा में रागद्वेष आदिक विकार होने रूप जो भावसंसार है उस भावसंसार से विरक्त होना और भी कठिन बात है। द्रव्यसंसार और भावसंसार और उसके बीच का सारा संसार इन तीन से विरक्ति हो तो ध्यान में चित्त ठहर सकता है। नरकों में अन्य दुःख हैं, तिर्यञ्चगति में अन्य दुःख हैं, मनुष्य और देवगति में अन्य दुःख हैं। यह जीव इन चारों गतियों में जन्म मरण करता हुआ चक्कर लगा रहा है। तू अपने मन में यह भावना बना कि मुझे तो संसार के चक्र से हटना ही है, हमारा तो यही प्रोग्राम है, मुक्ति का ही प्रोग्राम है मेरा। यदि ऐसा दृढ़ प्रोग्राम बन पाया हो तो आ, अब तू ध्यान का पात्र है। ध्यान की बात को सुन।

## श्लोक-269

पुनात्याकर्णितं चेतो दत्ते शिवमनुष्ठितम्।  
ध्यानतन्त्रमिदं धीरे धन्ययोगीन्द्रगोचरम्॥269॥

ध्यान शास्त्र के श्रवण से चित्त की पवित्रता— यहाँ तक तो ध्यान का पात्र कौन होता है और ध्यान की बात सुनने के लिए तुझे कैसी तैयारी करना है, इसका वर्णन किया है। अब ध्यान की प्रशंसा करते हैं। यह ध्यान का तंत्र चित्त को पवित्र करता है। तंत्र मायने शास्त्र भी है। ध्यान का प्रतिपादन करने वाले शास्त्र सुनने से चित्त में पवित्रता जगती है, और तंत्र के मायने अनुष्ठान भी है ध्यान के लिए जो कुछ भी प्रयोजन बनाये जाते हैं, जो उपक्रम किये जाते हैं, वे उपक्रम चित्त को पवित्र बनाते हैं। सुख में और आनन्द में यह तो एक अन्तर है। सुख तो मलीनमसता से भरा हुआ है और आनन्द पवित्रता से भरा हुआ है, इनके भोगने में भी अन्तर है सुख में प्रसन्नता नहीं रहती है, लेकिन सांसारिक विषयसुखों को भोगकर मुझे आनन्द होता है ऐसी जो धारणा रखता है वह केवल एक कहना मात्र है। उन्हें प्रसन्नता नहीं है। जिसे प्योर प्रसन्नता कहते हैं वह प्रसन्नता विशुद्ध पवित्र प्रसन्नता एक ज्ञानचर्या में है। अपने आपके ज्ञान की भावना में यह प्रसन्नता है इसका अन्दाजा कर लो, कभी जब किसी भी इन्द्रिय को भोग न रहे हों, ज्ञान की दृष्टि दे रहे हों, अपने आपकी एकता की ओर झुक रहे हों उस समय में प्रसन्नता तो होती है। उसको शरीर को मंद मुस्कान के साथ या मंदपरिवर्तन के साथ, पर वह है विशुद्ध आनन्द और सांसारिक सुखों में यह जीव मौज मानता है शरीर के विशाल परिवर्तन के साथ। तो भी वहाँ प्रसन्नता नहीं है। ज्ञान की बात सुनकर बहुत जोर से कोई न हँसेगा पर प्रसन्नता अत्यन्त अधिक होगी, और सांसारिक भोगों की बात सुनकर जोर से हँसेगा, शरीर का बड़ा परिवर्तन कर लेगा किन्तु प्रसन्नता वहाँ कुछ नहीं है। ज्ञान से उत्पन्न होने वाली प्रसन्नता और इन सब विषयभोगों से उत्पन्न होने वाला मौज इनमें बहुत अन्तर है। कोई उपमा की बात नहीं लग सकती है। यह ध्यान का शास्त्र, यह ध्यान का उपक्रम चित्त को पवित्र करता है। तीव्र रागादिकभावों को मिटा करके चित्त को विशुद्ध बनाना है। द्वेष में भी मलिनता है और उससे भी अधिक मलिनता राग में है, जो है नहीं उसे अपना मान लिया तो मलीमसता की ही तो बात है। दूसरे के मोह को देखकर दूसरे हँस सकते हैं। खुद को तो पता भी नहीं पड़ता कि मैं कुछ विडम्बना का काम कर रहा हूँ। तो तीव्र रागादिक भावों का अभाव ध्यानशास्त्र के सुनने से होता है। श्रवण करना यह चित्त के विशुद्ध बनाने के उपायों में एक विशेष उपाय है।

ध्यानतन्त्र में उपदिष्ट अनुष्ठान के विधान से शिवस्वरूप का लाभ— भैया ! बात ही सुन-सुनकर क्या यह निर्मोह नहीं बन सकता? घर में परिजन की, मित्रों की बातें ही तो सुनते हैं, बातें सुनी, राग बन गया, मोह बन गया। बातें सुनने से राग बनाया तो ज्ञान की बातें सुनने से राग मिट जायगा क्या, यह बात सम्भव नहीं हो सकती है? किसी भी बात को बारबार सुनने से चित्त में एक प्रभाव बनता है। जब कोई घर में बालक बड़ा है, कुछ थोड़ा सा विवेक जगा है, कुछ निर्मोहता की बात उसके चित्त में है और बातें भी धर्म की बहुत करता है, और उसका यह संकल्प होता है कि हम गृहस्थी में न फंसेंगे, अविवाहित रहेंगे, धर्मसाधना करना हमारा काम है। ऐसे बहुत से बालक देखे होंगे, पर बारबार समझाने से कुछ पिता ने समझाया, कुछ बुवा ने, कुछ मौसा ने, कुछ किसी ने समझाया तो बातें सुनने से आखिर वह गृहस्थ बनता ही है। ऐसे दसों दृष्टान्त ले लो जिन जिनके प्रसंग में आप आये हों। तो बारबार सुनने से लोग एक राग की विडम्बना बना लेते हैं। तो उस विपदा को मिटाने के लिए क्या यह कर्तव्य नहीं है कि हम ध्यान की, ज्ञान की, वैराग्य की बातें बहुत-बहुत सुनें। और न सुने कोई ध्यान के शास्त्र, वैराग्य के शास्त्र तो उसकी हालत अति दयनीय हो जायगी, लेकिन जो अच्छी तरह से जिन्दा रहते हैं वे मनुष्य ज्ञान और वैराग्य की बातें किसी न किसी रूप में सुनते हैं इसलिए अच्छी तरह से जीवित हैं। यदि ज्ञान और वैराग्य की बातें इसे सुनने को न मिले तो इसके जीवन की गाड़ी चलनी मुश्किल हो जायगी। जैसे लोग कहते हैं कि भारत में धर्म है बाहर नहीं है। अरे सभी जगह धर्म है जहाँ मनुष्यसमाज है। सर्वत्र धर्म की बात बनी है तब यह जीवन की गाड़ी चल रही है। कोई पाप करे, भोग ही भोग में बना रहे तो उसके जीवन की गाड़ी तक भी नहीं चल सकती। थोड़ा देर को ऐसा भी सोच लो कोई खाता ही खाता रहे तो उसकी जीवन गाड़ी नहीं चल सकती। दो एक दिन में साफ हो जायगा। तो अब कुछ त्याग में चले तो उसके जीवन की गाड़ी चलेगी। यों ही समझिये कि जो मनुष्यसमाज बना हुआ है वह धर्म के प्रसाद से बना हुआ है। यदि अधर्म और भोगों में ही यह खपा रहे तो इसकी गाड़ी नहीं चल सकती। तीव्र राग कोई करता रहे तो वह मिट जायगा। बीच-बीच में राग मिटने की बात भी थोड़ी आती रहना चाहिए। इससे चित्त की विशुद्धि होती है। और जहाँ चित्त विशुद्ध होता है वहाँ जो ध्यान बनता है वह ध्यान एक अपूर्व प्रसन्नता उत्पन्न करता है। यह ध्यान का शास्त्र सुनने से आचरण किया हुआ यह उपाय मोक्ष को देता है। ये सब बातें योगीश्वरों के द्वारा जानी हुई हैं, और योगीश्वरों ने यों बताया है इस कारण इस ध्यानतंत्र का तू भी स्वाद ले अर्थात् इस ध्यानतंत्र को सुन और इसका उस रूप से आचरण कर।

## श्लोक-270

विस्तरेणैव तुष्यन्ति केऽप्यहो विस्तरप्रियाः।  
संक्षेपरुचयश्चान्ये विचित्राश्चित्तवृत्तयः॥270॥

**संक्षेप और विस्तार में उपदेश करने का प्रयोजन—** आचार्यदेव कह रहे हैं कि बहुत से पुरुष तो विस्तार से ही प्रसन्न होते हैं और बहुत से पुरुष संक्षेप में ही रुचि रखने वाले होते हैं। चित्त की वृत्तियाँ नाना प्रकार की हुआ करती हैं। तो जैसे श्रोता हों उसी प्रकार का परिभाषण करना चाहिए। और भी सुनिये। दो प्रकार का प्रतिपादन होता है— एक संक्षेप में एक विस्तार से। यदि प्रथम ही प्रथम विस्तार से प्रतिपादन कर दें तो संक्षेप से जो अपनी प्रतिपादन रुचि रखते हैं उनका तो कुछ सवाल ही नहीं रहा और संक्षेप से यदि कुछ वर्णन करते हैं तो संक्षेप में रुचि रखने वाले श्रोताओं का काम तो पूरा बन गया और विस्तार से सुनने वाले श्रोताओं को भी बाधा न हुई। संक्षेप से ही तो विस्तार बनता है अतएव ध्यान की बात प्रथम संक्षेप में कही जायगी। जो योग्य पात्र होते हैं, थोड़े में बहुत अधिक समझ जाते हैं वे अधिक बातें सुनने से ऊब जाते हैं, उनकी चित्तवृत्ति फिर उस ओर नहीं रहती है। जब योग्यता नहीं होती है थोड़ीसी बात सुनकर समझने की तो उन्हें विस्तारपूर्वक कहा जाता है, पर वह विस्तार क्या एकदम बन जाता है? विस्तार भी तो संक्षेप के पश्चात् बना करता है। जैसे कोई गाड़ी या मनुष्य बैठा हुआ हो और बैठने के बाद एकदम भागे तो पहिले दौड़ बनती है कि चलना बनता है? पहिले तो धीमी गति से चले, फिर उसमें दौड़ बन जाती है ऐसी ही पद्धति है प्रतिपादन में और सुनने में ही यही पद्धति लगाई जानी चाहिए। तो संक्षेप रुचि रखने वाले श्रोताओं का ध्यान रखकर आचार्यदेव उसका संक्षेप में थोड़ासा वर्णन करेंगे और फिर संक्षेप में वर्णन के बाद अनेक अध्यायों में विस्तार से वर्णन करेंगे। प्रत्येक ग्रन्थ की यही बात है। समयसार ग्रन्थ में पूरे ग्रन्थ में जो कुछ बताया जाना था वह सब आदि की 8-9 गाथाओं में बता दिया गया है। संक्षेप में रुचि रखने वाले इस मर्म को पहिचानते हैं, बाद में अधिकार के रूप में विस्तार से वर्णन हुआ। सभी ग्रन्थों में यही शैली अपनाई गई है। तो यह ग्रन्थ एक ध्यान का है। इस ध्यान ग्रन्थ में सर्वप्रथम बहुत संक्षेप में ध्यान का वर्णन किया जायगा, पश्चात् फिर विस्तारपूर्वक ध्यान का वर्णन चलेगा। ध्यान में अध्ययन का ही एक संयत और विस्तृतरूप है अतएव ध्यान का सम्बन्ध ज्ञान से अधिक है। ज्ञान से ध्यान बनता है और फिर ध्यान से ज्ञान की पूर्णता बनती है। तो ध्यान का वर्णन करने के लिए कुछ थोड़ासा ज्ञान का वर्णन किया जायगा।

## श्लोक-271

संक्षेपरुचिभिः सूत्रात्तन्निरूप्यात्मनिश्चयात्।  
त्रिधैवाभिमतं कैश्चिद्यतो जीवाशयस्त्रिधा॥271॥

**जीव के आशयों की त्रिविधता—** संक्षेप में निरूपण करने की जिनकी रुचि है ऐसे पुरुषों ने सूत्र से, आगम परम्परा से आत्मनिश्चयपूर्वक देखकर जानकर तीन प्रकार की चित्तवृत्तियाँ बतायी हैं क्योंकि जीव के अभिप्राय तीन प्रकार के होते हैं। उपभोग की प्रवृत्ति तीन प्रकार से चलती है। जीव का लक्षण उपयोग है। उपयोग का अर्थ है ज्ञानदर्शनगुण का सम्बन्ध रखने वाले जो परिणमन हैं उनका नाम उपयोग है। व्यवहार में उपयोग का अर्थ है काम में लेना, उपयोग करना, यूज करना। तो ज्ञान और दर्शन का जो यूज है, परिणमन है, काम करना है वह है उपयोग। वह उपयोग स्वभावतः तो एक ही प्रकार परिणमना चाहिए, किन्तु उसके साथ जो उपाधि लगी है जीव में उस निमित्त से उपयोग के उपयोगरूप से दो और परिणमन बताये हैं। एक शुभ और एक अशुभ। तो चूँकि जीव के अभिप्राय तीन प्रकार के हैं इस कारण चित्त की वृत्तियाँ तीन प्रकार बतायी गई हैं। वे तीन कौन प्रकार हैं, उन आशयों का व्याख्यान करते हैं।

## श्लोक-272

तत्र पुण्याशयः पूर्वस्तद्विपक्ष ऽशुभाशयः।  
शुद्धोपयोगसंज्ञो यः स तृतीयः प्रकीर्तितः॥272॥

**जीव के त्रिविध आशय—** एक तो पुण्याशय है, दूसरा अशुभाशय और तीसरा शुद्धोपयोग, इस प्रकार तीन प्रकार की चित्तवृत्तियाँ अथवा आशय बताये गए हैं। जिस आशय में न पुण्य है न पाप है, किन्तु केवल एक स्वभावपरिणमन है, ज्ञाताद्रष्टा रहने रूप ही परिणमन है उसे कहते हैं शुद्धोपयोग। और जहाँ पुण्यरूप आशय है वह है पुण्याशय और जहाँ पापरूप आशय है वह है पापाशय अथवा अशुभाशय, जिन्हें प्रसिद्धि शब्दों में कहो— अशुभोपयोग, शुभोपयोग और शुद्धोपयोग। शुद्धोपयोग के कई प्रकार नहीं हैं, वह एक ही रूप रहता है। हाँ कदाचित् विकास की अपेक्षा उसमें यह प्रकार बोला जा सकता है कि यह कम विकास का शुद्धोपयोग है। जितने भी विकसित भाव हैं वह सब एक ही प्रकार के हैं। और, वैसे तो जो पूर्णतया शुद्ध है उसे

शुद्धोपयोग कहते हैं। शुभोपयोगअसंख्यातों प्रकार का होता है और अशुभोपयोग उससे असंख्यातोंगुने प्रकार का होता है।

संसार के समस्त प्राणी प्रायः अशुभोपयोग में रत हैं। शुभोपयोग की बात संज्ञीपंचोन्द्रय में ही तो हो सकती है। असंज्ञी जीव तो सभी अशुभोपयोगी हैं। आहार, निद्रा, भय, मैथुन चार संज्ञावोंरूप ज्वरों से पीड़ित हैं। जहाँ केवल विषयकषायों से ही सम्बंध है, और विषयों के साधनभूत परपदार्थों का ही जहाँ आश्रय है वह सब अशुभोपयोग ही तो है। शुभोपयोग कुछ विवेक जगे तब उत्पन्न होता है। जहाँ मंदकषाय हों, धर्म और धर्मसम्बन्धित घटनाओं में धर्मात्माजनों में जहाँ रुचि जगती हो, उनका संग रुचता हो, गुण रुचता हो वह उपयोग शुभोपयोग कहलाता है। शुभोपयोगियों की अनन्तवें भाग प्रमाण है। शुभोपयोगियों से अनन्तगुणे अशुभोपयोगी जीव हैं।

जीव का हित तो शुद्धोपयोग है और उस शुद्धोपयोग में चलने वाले जीवों के शुभोपयोग होता है और शुभोपयोग की परिणतियाँ पाकर यह जीव शुद्धोपयोगी बन पाता है, इस कारण शुभोपयोग भी उपादेय कहा गया है, पर इसकी उपादेयता कुछ काल तक के लिए है। शुभोपयोग सर्वथा उपादेय नहीं है। अशुभोपयोग तो सर्वथा हेय है। अशुभोपयोग से जीव की कोई सिद्धि नहीं है। हम आप सब अपनी चर्या में यह भी तो देखते रहें कि हम अपना उपयोग किस ढंग के बनाये जा रहे हैं। कभी शुद्धोपयोग की भावना भी जगती है या नहीं। अशुभोपयोग में हम कितनी देर बहते चले जाते हैं। जहाँ धर्म का सम्बन्ध नहीं है वहाँ जितनी भी कल्पनाएँ उठ रही हैं वे सब अशुभोपयोग ही तो हैं। तो अशुभोपयोग से हटकर शुभोपयोग में आकर शुभोपयोग को पार करके शुद्धोपयोगी बनना, यही है मोक्षमार्गियों की पद्धति। अब तीन प्रकार के आशयों से प्रथम जो शुभोपयोग है उसका वर्णन करते हैं।

### श्लोक-273

पुण्याशयवशाज्जातं शुद्धलेश्यावलम्बनात्।  
चिन्तनाद्वस्तुतत्त्वस्य प्रशस्तं ध्यानमुच्यते॥273॥

**शुभोपयोग के वर्णन का उपक्रम—** पवित्र आशय के वश से और विशुद्ध लेश्या के अवलम्बन से तथा वस्तु के यथार्थ स्वरूप के चिन्तन से जो उत्पन्न हुआ ध्यान है वह प्रशस्त ध्यान है, यही शुभोपयोग है, इसको ही पुण्याशय कहते हैं। पवित्र अभिप्राय होने से यह प्राणी अपराधों से दूर होता है। कभी लोकव्यवहार में भी देखा होगा अपने मित्र से, सेवक से अथवा परिवार के किसी व्यक्ति से कोई गलती भी बन जाय और आशय उसका गलती करने का न हो, पवित्र आशय हो और फिर भी बिगड़ जाय तो वहाँ वह अपराध क्षम्य होता

है। उसे अपराधी मानकर बहिष्कृत नहीं किया जा सकता है। पुण्य का आशय हो पर जो भी चेष्टायें होंगी वे चेष्टायें विरोध करने वाली न होंगी, पर कदाचित् तीव्र ही ऐसा कर्म का उदय आये कि पुण्य का आशय होकर भी चेष्टा कुछ विपरीत बन जाय तो भी वहाँ पुण्याशय है, और शुभोपयोग है।

**भाव से उपयोग का प्रकार बनने का कथन—** एक ऐसी छोटी सी कहानी बतायी है कि दो भाई थे। एक भाई तो चला गया लकड़ी बीनने, रसोई में जरूरत थी और उस दिन थी पूजा की बारी, सो एक भाई को भेज दिया पूजा करने। अब लकड़ी बीनने वाला जंगल में सोचता है कि हम कहाँ फँस गए, लकड़ी बीनने चले आए, हमारा भाई पूजा कर रहा होगा प्रभु के गुण गा रहा होगा। पूजा करने वाला सोचता है कि हम कहाँ फँस गए, भाई तो जंगल में आम के पेड़ पर, जामुन के पेड़ पर चढ़ रहा होगा। गीत गा रहा होगा, मौज कर रहा होगा। अब देखिये आशय के वश तो लकड़ी बीनने वाला तो पुण्याशय में है और पूजा करने वाला पापाशय में है। कर्म यह नहीं देखते हैं कि यह जीव शरीर से क्रिया क्या कर रहा है, इसे देखकर हम बँधे सो बात नहीं है। कर्म का तो जीव के आशय के साथ निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है। पुण्य का आशय होगा तो पुण्यप्रकृति का बंध है और पाप का आशय होगा तो पापप्रकृति का बंध है। पुण्याशय के वश से जो ध्यान उत्पन्न होता है वह शुभोपयोग है, प्रशस्त ध्यान है।

**विशुद्ध लेश्या के अवलम्बन से ध्यान की प्रशस्तता—** इसी प्रकार विशुद्ध लेश्या के अवलम्बन से प्रशस्त ध्यान हुआ करता है। लेश्या 6 हैं— कृष्णा, नील, कपोत, पीत, पद्म, शुक्ल। इनमें प्रथम तीन तो अशुभ लेश्याएँ हैं और अन्त की तीन शुभ लेश्याएँ हैं। जहाँ प्रचण्ड स्वभाव हो, लड़ने का स्वभाव हो, बैर न छोड़े, धर्मदया से रहित हो ऐसा क्रूर आशय कृष्ण लेश्या में होता है। नील लेश्या में भी जीव अविवेकी है, विषयलोलुप है, निन्दा व ठगाई में चतुराई रखता है और तृष्णा में पगा हुआ रहता है। कपोल लेश्या में प्रशंसा सुनकर अपने प्राण भी गंवा सके, प्रशंसा करने वाले को बहुत धन दे दे, ईर्ष्या से, शोक व भय से विह्वल रहे ऐसा उसका आशय रहता है। इस प्रकार बहुत से अशुभलेश्याओं के चिन्ह हैं। पीत लेश्या में धर्म की ओर प्रेम होता है, दान परोपकार इनकी ओर चित्त रहता है, कार्य अकार्य का विवेक रहता है। पद्म लेश्या में और विशुद्धि होती है। साधुसेवा देवपूजा में प्रीति बढ़ती है, त्यागवृत्ति जगती है, अब यह समतापरिणाम के अभ्यास में भी लगता है। और, शुक्ल लेश्या में जीव पक्षपातरहित शुद्ध आशय रखता है। यों विशुद्ध लेश्या का अवलम्बन हो तो वहाँ जो ध्यान बनता है वह भी प्रशस्त ध्यान है, शुभोपयोग है।

**वस्तुस्वरूप के चिन्तन से ध्यान की प्रशस्तता—** वस्तुस्वरूप के चिन्तन से भी प्रशस्त ध्यान होता है। प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने स्वभावमात्र हैं और प्रतिक्षण अपने स्वरूप से परिणमन करते जाते हैं। यदि उन पदार्थों का त्रैकालिकरूप अनुमान में लाया जाय, तो वह पदार्थ अनादि से अनन्तकाल तक रहता है और वह किसी न किसी पर्याय में सदा बना रहेगा। किसी न किसी पर्याय के बिना द्रव्यगुण रहता नहीं। द्रव्य है तो उसका

परिणमन है, अवस्था है, अवस्थाशून्य द्रव्य कैसा? बस इसी आशय से ध्रुवैकान्त में स्याद्वाद में अन्तर आ जाता है। एक ऐसा दर्शन है कि जगत में ब्रह्म तो है, पर उसका परिणमन कुछ नहीं है। परिणमन जितने होते हैं वे सब प्रकृति के हैं, माया के हैं यों समझिये। तो कुछ भी रूपक हुए बिना कुछ भी परिणमन हुए बिना वस्तु क्या है। केवल एक कहने की बात है, कुछ भी हम कह दें। सत् है तो उसका कुछ परिणमन तो होना चाहिए। इस युक्ति से यदि ब्रह्म का परिणमन मान लिया जाय तो सारा विवाद मिटा, वह सच्चिदानन्दस्वरूप है और मेरा सुख मेरा आनन्द यह परिणमन है। तब ये तीन बातें ही तो आयी— शुभोपयोग, अशुभोपयोग और शुद्धोपयोग।

जब हम वस्तु को काल की अपेक्षा देखते हैं, तो पदार्थ अनन्तपर्यायात्मक है और चूँकि हम नहीं जानते किस पर्याय के बाद क्या होता है, पर काल में तो यह पड़ा हुआ है कि कल कुछ परिणमन होगा। जो होगा हम नहीं जानते। तो इस दृष्टि से पदार्थ अनन्तपर्यायात्मक हैं और उससे एक पर्याय के बाद दूसरी पर्याय प्रकट होती है इस तरह से क्रम-क्रम से उस द्रव्य की पर्यायें प्रकट होती जाती हैं। लेकिन केवल इसे एकान्तरूप से ही देखें तो फिर अवस्था नहीं बन सकती। केवल द्रव्य के कारण उस ही वस्तु की ओर से उस वस्तु के ही स्वभाव के कारण जो भी परिणमन होंगे वे विभिन्न नहीं हो सकते, लेकिन विभिन्न परिणमन देखे जाते हैं। तो यह निश्चय करना होगा कि प्रत्येक पदार्थ उपाधि का निमित्त पाकर जब-जब द्रव्य में जो परिणमन होते हैं वे परिणमन विभिन्न और विकृत हुआ करते हैं।

अब यहाँ दो दृष्टियों का द्वन्द्व चल बैठा। एक दृष्टि से तो पदार्थ की पर्यायें पदार्थ से ही प्रकट होती हैं अन्य वस्तु से नहीं, और एक दृष्टि से यह बात आयी कि जितने भी ये विभिन्न विकृत परिणमन हैं ये पदार्थ का निमित्त पाकर ही हो सकते हैं, परनिमित्त बिना नहीं हो सकते हैं। अब तो द्वन्द्व में जो भी विवेकी पुरुष ज्ञान का ऐसा सामर्थ्य प्रकट करे कि निमित्तनैमित्तिक भाव को मानकर भी वस्तुस्वातंत्र्य से नहीं हट सकते, और वस्तुस्वातंत्र्य को स्वीकार करके भी इस व्यवस्थापद्धति का विरोध नहीं कर सकते। यह सम्यग्ज्ञान है, प्रमाण का निरूपण है। सब कुछ जान करके भी अन्त में अपने को यह मौलिक ज्ञान करना ही होगा कि प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्र है, अपने ही द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से है, किसी का किसी अन्य से सम्बन्ध नहीं है।

**तत्त्वचिन्तनप्रकाश में मोहान्धकारविदारण करने का सामर्थ्य—** तत्त्वचिन्तन मोहान्धकार को नष्ट कर देता है। मोह को दूर करने के लिए अनेक दार्शनिकों ने अनेक उपाय बताये हैं। कोई कहता है कि तुम भगवान की भक्ति में लीन हो जाओ, वह ही तुम्हें पार कर देगा, उनके ही गुण गाते जाओ, और गुण भी क्या कोई गाता है, जो प्रवृत्ति गायी जाती है वैसी प्रवृत्ति कोई करे तो कहो उसे जेलखाना भी हो जाय। अभी कोई किसी के घर से दूध घी चुरा ले तो उसे दण्ड मिलेगा या नहीं। लेकिन घी दूध चुराने की बात भी प्रभु नाम पर कभी आयी हो तो उसके भी गुण गाये जाते। किसी भी प्रकार अपने को समर्पण कर दो प्रभु को, यह है मोह को

दूर करने की बतायी हुई पद्धति। कोई यह कहता है कि घर छोड़ दो, जंगल में अकेले रहने लगे तो मोह छूट जायगा। कोई यह कहता है कि तुम जितना परिवार के लोगों से प्रेम करते हो उतना ही प्रेम कुछ अनेक लोगों से करने लगे, तुम्हारा मोह छूट जायगा। अनेक उपाय बताये जाते हैं। और उन सब उपायों में कुछ थोड़ी-थोड़ी जान अवश्य है मगर यह पूर्ण उपाय नहीं है। जैनशासन ने मोह दूर करने का उपाय तो यों बताया है कि प्रत्येक वस्तु को यथार्थरूप में जान जावो, मान जावो। प्रत्येक पदार्थ कितना है, कैसा है उसका क्या काम है, कितने में उसका काम परिसमाप्त है, इन सब बातों को समझ जावो तो मोह टूट जायेगा।

अब आप एक स्थूल दृष्टि से निर्णय करें तो यह बात जरा देर में हृदय में बैठेगी और यह बात जल्दी समझ में आ जायगी कि प्रभु की भक्ति में लग जावो, घर छोड़कर चले जावो, मोह छूटेगा। तुम दूसरों का उपकार करने लगे, देशसेवा करने लगे, गरीबों की भलाई में अपना समय लगाने लगे मोह छूट जायगा। ये बातें जरा जल्दी चित्त में बैठती हैं पर जिसे मौलिक सिद्धान्त कहते हैं, अमोघ उपाय कहते हैं कि नियम से मोह छूटेगा ही, वह उपाय तो यही है— वस्तु का स्वरूप यथार्थ जान जावो और वैसा ही मान जावो, वहाँ मोह निशान को भी नहीं रह सकता। तो वस्तु के चिन्तन करने से ध्यान उत्पन्न होता है। वह प्रशस्त ध्यान है, इसे शुभोपयोग कहते हैं शुभोपयोग भी दो प्रकार से मान लीजिए। एक मंदकषाय में रहने वाले अज्ञानीजनों के द्वारा भी किया गया शुभोपयोग और एक सम्यग्दृष्टि यथार्थ ज्ञानी पुरुष के द्वारा किया गया शुभोपयोग। अज्ञान अवस्था में जो भी एक मंदकषाय की प्रवृत्ति बनती है उस शुभोपयोग में शुद्ध स्वरूप का लक्ष्य नहीं बना हुआ है। और ज्ञानीजनों के शुभोपयोग में शुद्ध सहज आत्मस्वरूप का लक्ष्य बना हुआ है और मुकाबलेतन इस कारण शुभोपयोग ज्ञानी के ही उपयोग को कह लीजिए।

**धर्मध्यान की चर्या में ध्यान की प्रशस्तता—** हम आपकी दिनचर्या में जितना भी समय धर्मध्यान से गुजरता है, मंदिर आये, दर्शन किया, स्वाध्याय किया, कुछ संयम व्रत तपस्या किया, गुरुजनों की सेवा की इन सब प्रसंगों में एक लक्ष्य को न छोड़ा जाय तो उससे बड़ी सिद्धि है और कर्मों की निर्जरा चलती रहती है। दर्शन करते हुए मैं इस सच्चिदानन्दस्वरूप के हम दर्शन करें, इस मूर्ति में जिसकी स्थापना की हुई है उस पर दृष्टि दें, दर्शन तो प्रतिमा के कर रहे हैं पर उस दर्शन में हमारी दृष्टि उस प्रभु पर जिसकी हमने स्थापना की है और उस प्रभु पर दृष्टि जाकर भी उनका रंग रूप शरीर आकार उनके माता पिता आदि पर दृष्टि न जाकर उस आत्मा के विकास पर दृष्टि जाय, हम जिसके दर्शन कर रहे हैं। उस विकास पर दृष्टि रखते ही तुरन्त चूँकि वह विकास जीवस्वभाव के अनुरूप है अतः स्वभाव और विकास का अभेद करके एक मात्र चित्रकाश की दृष्टि बन जायगी। उस चित्रकाश के दर्शन करने आया हूँ वह चित्रकाश किसी एक व्यक्तिगत नहीं बन पाता, किन्तु वह एक स्वरूप है। जैसे कोई रूप ले लीजिए हरा रूप। तो क्या हरा रूप कहने से आपकी दृष्टि में व्यक्ति नजर आयगा? हरी-हरी 50 चीजें हैं पर हरे रूप में कोई चीज ग्रहण में न आयगी। एक स्वरूप ग्रहण में आयगा। हरा रूप किसी चीज में बँधकर नहीं रहता, वह तो एक हरा रूप है, स्वरूप है,

इस प्रकार चित्रकाश किसी एक व्यक्ति में बंधाने वाली बात नहीं है, किन्तु वह तो एक स्वरूप है, जब प्रभु के दर्शन के समय हमारी चित्रकाश दृष्टि जायगी तो प्रभुव्यक्ति भी छूट जाता है और एक केवल चित्रकाश ग्रहण में रह जाता है। तो वह ग्रहण अब किसका आश्रय करे, सामान्य हो गया है सो प्रभु का तो आश्रय कर नहीं सकता तब वह निज का आश्रय करेगा। तो यों सही पद्धति से प्रभुदर्शन करने पर अपने दर्शन हो जाते हैं तो ऐसी शुद्ध दृष्टि को रखकर जो हमारी ध्यान चर्या चले तो वह हमारा समस्त ध्यान है और सही मायने में शुभोपयोग है, इस तरह आशय के तीन प्रकार का वर्णन किया है। अब शुभोपयोग का वर्णन आगे के श्लोक में आयागा।

### श्लोक-274

पापाशयवशान्मोहान्मिथ्यात्वाद् वस्तु विभ्रमात्।  
कषायाज्जायतेऽजनस्रमसद्‌ध्यानं शरीरिणाम्॥274॥

**अशुभोपयोग व अशुद्धध्यान के वर्णन का उपक्रम—** जीवों के पापरूप आशय के कारण मोह, मिथ्यात्व, कषाय और तत्त्वविभ्रम से अप्रशस्त ध्यान होता है। ये स्वयं पाप के आशय हैं। किसी भी अन्य वस्तु को अपनी समझना, किसी अन्य वस्तुरूप अपने को मानना यह मोह है। इसमें भी पापरूप आशय पड़ा हुआ है। जो अपने घात का कारणभूत है वह सब पापभाव है। मोह से इस जीव को घात हो ही रहा है। कहाँ तो यह जीव अनन्त चतुष्टयस्वरूप वाला है और कहाँ निगोद कीड़ा आदिक कुयोनियों में भ्रमण कर रहा है, यह आत्मा का घात ही तो है। मोह में पाप का आशय स्वयं बसा हुआ है। मिथ्यात्व यद्यपि मोह से अलग नहीं है लेकिन मुकाबलेतन इसे गृहीत मिथ्यात्व का रूप प्रधानता से दिया जायगा। तो मोह और मिथ्यात्व ये दो चीजें ठीक बैठ जायेंगी। मोह तो है अगृहीत मिथ्यात्व होना और मिथ्यात्व है गृहीत मिथ्यात्व होना। कुगुरु, कुदेव, कुशास्त्र आदि के प्रति भक्ति होना उसमें प्रीति होना यह मिथ्यात्व है। उसमें भी पाप का आशय बसा हुआ है।

**कषायों की पापरूपता—** कषाय स्वयं पापरूप हैं। क्रोध, मान, माया, लोभ ये ही कषायें जीव को कसती हैं अर्थात् दुःख देती हैं सो ये भी पाप के आशय हैं। क्रोध से अपने आपकी सुध भी नहीं रहती। क्रोध में यह जीव अपना और दूसरों का भी बिगाड़ करता है। किसी पर क्रोध कर जाय तो कुवे में गिर कर अपना भी नाश कर जाय, और नहीं तो इतना ही भाव लेकर कि हम कुवे में गिरेंगे तो ये गिरपतार होंगे, ये जाति से बहिष्कृत हो जायेंगे, इनको इस तरह से बरबाद कर दें। क्रोध में आकर वह अपना भी बिगाड़ कर लेता है और दूसरे का भी बिगाड़ कर लेता है। मान घमंड होना यह भी पाप का आशय है। यह मानी पुरुष अपने

आपमें कुछ से कुछ कल्पनाएँ करके अपना महत्व मान रहा है, किन्तु अन्य लोग तो जो सही बात है वैसा ही समझते हैं। तो पर को अपना समझना भी मिथ्यात्व है, और वस्तुओं के सम्बंध में विभ्रम होना, भूल हो जाना, गलत समझ लेना यह भी पाप का आशय है।

**अशुभोपयोग में मोह मिथ्यात्व व भ्रम का समावेश—** यहाँ तीन बातें बतायी हैं जो कि करीब एक सी हैं। मोह, मिथ्यात्व और वस्तुविभ्रम। इनका करीब-करीब एक ही मूल होने पर भी इनमें तीन बातों की झलक आती है। मोह तो नाम अगृहीत मिथ्यात्व का है जो एकेन्द्रिय से लेकर संज्ञीपंचेन्द्रिय तक भी पडा हुआ है। मिथ्यात्व में प्रधानता लो गृहीत मिथ्यात्व की। धर्मभक्ति के नाम पर कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरु को देव, शास्त्र समझकर उनकी भक्ति करके उनका अनुराग रखना, उनका सेवक बनना यह मिथ्यात्व से समझिये और वस्तुविभ्रम शब्द से उन दार्शनिकों का ग्रहण हो जाता है जो वस्तु के स्वरूप का प्रतिपादन करने चले हैं पर भ्रम हो गया है और अयथार्थ प्रतिपादन करते हैं। वस्तु के सम्बन्ध में विपरीत जानकारी बनाये रखना सो वस्तुविभ्रम है। ऐसे इन तीन से और कषायों से जो निरन्तर प्रकाश का अशुभध्यान बना रहता है वह है अप्रशस्त ध्यान। इस प्रथम अन्तराधिकार में तीन प्रकार के उपयोगों को बताया जा रहा है—शुद्धोपयोग, शुभोपयोग और अशुभोपयोग। यह अशुभोपयोग का कथन है यह सब अशुभोपयोग है और अशुभ का उपयोग है।

## श्लोक-275

क्षीणे रागादि सन्ताने प्रसन्ने चान्तरात्मनि।

यः स्वरूपोपलम्भः स्यात्स शुद्धाख्यः प्रकीर्तितः॥275॥

**शुद्धोपयोग के वर्णन का उपक्रम—** अब इसमें शुद्धोपयोग का वर्णन है। रागादिक की संतान के क्षीण हो जाने पर अन्तरङ्ग आत्मा के प्रसन्न होने से जो अपने स्वरूप की उपलब्धि होती है, स्वरूप का आलम्बन होता है वह शुद्ध ध्यान है। स्वरूप की उपलब्धि का नाम शुद्धोपयोग है। जैसा अपना सहज यथार्थ निरपेक्ष स्वरूप है उसकी प्राप्ति होने का नाम है शुद्धध्यान। यह शुद्ध ध्यान कैसे प्रकट होता है उसके उपाय का भी इस लक्षण में वर्णन कर दिया है। रागादिक की संतान क्षीण हों, राग संस्कार दूर हों इससे अन्तर का आत्मा निर्मल होता है, निर्भार शुद्ध ज्ञाता दृष्टा होता है। अपनी जो अपने स्वरूप की प्राप्ति है उसका नाम है शुद्धध्यान, शुद्धोपयोग। यह तीसरे नम्बर का उपयोग है— अशुभोपयोग, शुभोपयोग और शुद्धोपयोग। ऐसा क्रम रखने का यह प्रयोजन है कि यह जीव अनादि से अशुभोपयोग को बर्तता चला आ रहा है, और अशुभोपयोग में जीव ने अनन्तकाल व्यतीत कर दिया। अब अशुभोपयोग से हटकर जब यह कुछ विवेक में आता है तो किसी के शुद्धोपयोग लक्ष्य में रहकर शुभोपयोग होता है, किसी को शुद्धोपयोग लक्ष्य में न भी हो ऐसी भी मंदकषाय के

कारण शुभोपयोग हो जाता है, किन्तु शुद्धोपयोग जिसके नहीं प्रकट हुआ है उससे पहिले शुभोपयोग होता ही है। सम्यक्त्व जब उत्पन्न होता है तो अशुभोपयोग के बाद उत्पन्न नहीं होता। अशुभोपयोग से हटकर शुभोपयोग में रहता है। तब उसे सम्यक्त्व उत्पन्न होता है। यद्यपि वह अशुभोपयोग मिथ्यात्व अवस्था में है और मंदकषाय का फल है। तीव्रकषाय के बाद सम्यक्त्व कहाँ जगता है। मिथ्यात्व वह भी है, अनन्तानुबंधीकषाय भी है और मंद हो तो सम्यक्त्व उत्पन्न होने की पात्रता आती है। तो अशुभोपयोग से हटकर शुभोपयोग में और शुभोपयोग से शुद्धोपयोग में यह जीव आता है। शुद्ध का उपयोग, मानसिक शुद्धोपयोग, परिपूर्ण शुद्धोपयोग। शुद्ध का उपयोग तो सम्यक्त्व जगते ही शुरू हो जाता है जिसे शुद्ध सहजतत्त्व का श्रद्धान हुआ है उसका उपयोग बना रहे, जानन बना रहे यही है शुद्ध का उपयोग। और इस शुद्ध के उपयोग से जो निर्मलता बनती है, रागादिक दोष दूर होते हैं तो इस शुद्ध का उपयोग बने रहने से ऐसा आत्मबल प्रकट होता है कि सब रागादिक भाव दूर हो जाते हैं। जब वीतराग अवस्था प्रकट होती है वह है परिपूर्ण शुद्धोपयोग। और शुद्ध का उपयोग जब से प्रारम्भ होता है तब से लेकर वीतराग बनने से पहिले तक उसके आंशिक शुद्धोपयोग है। तो यों शुद्धोपयोग चतुर्थगुणस्थान से प्रारम्भ होकर अन्तिम तक बना रहता है यही जानकर उपयोग शुद्ध पर लगायें, शुद्धोपयोग बना रहे तो ऐसा शुद्धोपयोग सिद्ध जीवों के भी सिद्ध होता है। शुद्धोपयोग है। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये 5 भेद कहे गए हैं। तो केवलज्ञान भी उपयोग है। वह केवलज्ञान कैसा उपयोग है— अशुद्ध या शुद्ध? अशुद्ध तो कहा नहीं जा सकता। शुद्ध है तो वही शुद्ध हुआ। ऐसा यह शुद्धोपयोग एक शुद्ध आशय का है, शुद्ध अन्तःशक्ति का विकासरूप है। इस तरह तीन उपयोगों का लक्षण इन तीन श्लोकों में बता दिया गया है।

## श्लोक-276

शुभध्यानफलोद्भूतां श्रियं त्रिदशसंभवां।

निर्विशान्ति नरा नाके क्रमाद्यान्ति परं पदम्॥276॥

**शुभध्यान का फल**— शुभध्यान से क्या फल मिलता है इसका इसमें प्रतिपादन है। शुभध्यान के फल में यह मनुष्य स्वर्ग की लक्ष्मी को स्वर्ग में भोगता है और फिर क्रम से जो परमपद है, निर्वाणपद है उसको प्राप्त करता है। स्वर्गों में दिव्य वैक्रियक शरीर होता है, हजारों वर्षों में भूख प्यास लगती है, कई पखवारों में श्वांस लेने का कष्ट करना होता है। जहाँ छोटे से छोटे देव के कम से कम 32 देवांगनाएँ कही गयी हैं। कोई देव कुमारवत भी रहे हैं—जैसे लौकान्तिक देव अथवा स्वर्गों से ऊपर के देव, पर सबके दिव्य वैक्रियक शरीर हैं। जब उनको जिस चीज की इच्छा होती है उसकी शीघ्र पूर्ति हो जाती है ऐसा वहाँ पुण्य का वैभव है। ऐसी विभूति को प्राप्त करना यह शुभध्यान का फल है। पाप के फल में स्वर्गों में जन्म नहीं होता। दया, परोपकार,

दान आदिक शुभध्यान रहें तो शुभध्यान के फल में यह स्वर्ग के वैभव की प्राप्ति होती है। और यह शुभध्यान सांसारिक उत्तम सुख को भी प्राप्त कराता है और साथ ही ऐसी परम्परा बनाता है कि वह निर्वादपद भी प्राप्त कर ले। तो शुभोपयोग का फल है उत्तम विभूति प्राप्त करना और परम्परा निर्वादपद प्राप्त करना।

**शुभध्यान के फल में मोहित न होने का अनुरोध—** शुभध्यान के फल की बात सुनकर तो उद्देश्य की इतिश्री यहाँ तक न बनावें क्योंकि देव भी कोई हो जाय तो आखिर वे संसारी प्राणी ही तो हैं लम्बी आयु पायी है, दिव्य शरीर पाया है, विक्रिया ऋद्धि भी कुछ अद्भुत है, इतनी ही तो विशेषता है साधारणजनों की अपेक्षा लेकिन ऐसे सुख में रहते हुए भी वे अपनी कल्पनाएँ बनाकर किसी न किसी प्रकार के दुःख का अनुभव कर लिया करते हैं। जितने बड़े पुरुष होते हैं, यहाँ भी आप देख लो सब कुछ साधन है, खाने पीने की तकलीफ नहीं, किसी आरामसाधन की कमी नहीं, लेकिन कल्पनाएँ ऐसी बनाते रहते हैं कि परिवार में उनकी किसी से नहीं बनती, इच्छाएँ बहुत बढ़ा लेते हैं, तृष्णायें बहुत बढ़ जाती हैं, तो स्वर्ग के देव तो यहाँ के धनिक मनुष्यों से उत्कृष्ट बुद्धि वाले हैं, ये भी अपनी कल्पनाएँ बनाकर दुःख मोल ले लिया करते हैं। अपने से अधिक ऐश्वर्य वाले देवों को देखकर चित्त में जलना, दूसरे किसी देव और इन्द्र की आज्ञा मानने पर अपने आपमें दुःखी होना, अथवा अपने को बड़ा देव समझकर छोटे देवों को आज्ञा देने की तकलीफ करना ये सब वेदनाएँ उनके भी चलती रहती हैं। और, जब आयु पूर्ण होती है वहाँ से मरकर नीचे ही आना पड़ता है, देव लोग मरकर साधारण वनस्पति नहीं होते, एकेन्द्रिय होंगे तो पृथ्वी है, प्रत्येक वनस्पति है ऐसी योनियों में जन्म लेंगे। दो, तीन और चारइन्द्रिय तो होते ही नहीं हैं। पंचइन्द्रिय में संज्ञीपञ्चेन्द्रिय पर्याप्त तक बनेंगे। तो आखिर यहाँ भी बनें तो इस भूलोक में ही तो आकर बने। उनकी नियम से अधोगति ही होती है। देवगति से मरण करके देव न तो पुनः देव होते हैं, न नारकी बनते हैं, न द्वीन्द्रिय, न तीनइन्द्रिय, न चतुरिन्द्रिय और न असंज्ञी पंचेन्द्रिय बनते हैं। उसका ऐसा नियम है। अगर अधिक तृष्णा ईर्ष्या करें तो एकेन्द्रिय भी बन सकते हैं। तो कुछ भी बन जायें, आखिर स्वर्ग से नीचे आकर ही तो जन्म लेना पडा। तो उन देवताओं का भी कोई सुखिया जीवन नहीं है, ऐसे स्वर्ग की हम विभूति पायें देव बनें, ऐसी कामना न करके भावना यह होनी चाहिए कि मेरे में ऐसी विशुद्धि जगे कि मैं अपने सहज शाश्वतस्वरूप का दर्शन करता रहूँ।

**निज सहजस्वरूप के दर्शन से संकटों का विनाश—** ज्ञानी मनुष्यों को चाहे बाहर में कितनी ही विपदायें लगी हों, दरिद्रता हो, कोई सताता हो, कुछ भी स्थिति हो लेकिन वह अपने आपके अन्तर में अपने सहजस्वरूप पर दृष्टि देता है तो वहाँ सारे संकट समाप्त हो जाते हैं। कोई संकट ही नहीं। वह बाहरी बातों को यों समझता है कि ये भी पदार्थ हैं, और ऐसे परिणम रहे हैं। जैसे जो लोग कुछ कुशल होते हैं वे दूसरों की गाली सुनकर क्षुब्ध नहीं होते। और, उनके विषय में कवि लोग यों कहते हैं कि गाली देने वाले ने तो गाली दी, पर लेने वाला यदि गाली न ले तो गाली उसे कैसे लगेगी। तो इसी तरह परपदार्थों के ये सब परिणमन होते हैं जिन्हें लोग प्रतिकूल परिणमन भी कहते हैं और दूसरे मनुष्यकषाय के वशीभूत होकर मुझको लक्ष्य में

लेकर प्रतिकूल बर्ताव करें लेकिन मैं उन परिणमनों को न ग्रहण करूँ, इन परिणमनों ने मेरे में कुछ बिगाड़ किया है ऐसा मानें क्योंकि आखिर बात तो है ऐसी ही ना। तो फिर यह जीव निर्मोह है, शुद्ध है, पवित्र है, उसे क्षोभ का क्या काम है। क्षोभ तब होता है जब हम इन बाह्य पदार्थों के परिणमन को ग्रहण करते हैं। हम ग्रहण न करें, जानते जायें कि ऐसा ठीक है, मन में हँसते जायें, संसार मायारूप है।

**अन्य के दुर्वचन व दुर्व्यवहार होने पर भी क्षोभ न आने का विवेक—** हमने जो कुछ किया है अपने परिणामों के अनुसार किया है, मुझे क्या है, और मुझे तो कोई लोग जानते तक नहीं है। लोग अधिक से अधिक इस देह पर दृष्टि लगाते हैं और इसे ही निरखकर यह फलाने हैं इस प्रकार का भाव बनाते हैं। मेरा न किसी से परिचय है और न कोई मुझको लक्ष्य में लेकर कुछ व्यवहार करता है। जिसे लक्ष्य में लेकर व्यवहार करे वह चिढ़े। जैसे किसी सभा में कोई आदमी गाली दे और समझ जाय कि यह इस पर आक्षेप कर रहा है और वह उसकी ओर देखने लगे, लेकिन यदि वह कुछ विवेकी है तो अपनी मुद्रा ऐसी दिखायेगा कि जिससे स्पष्ट हो कि यह मुझे गाली नहीं दे रहा, जो चोर होगा उसे गाली दे रहा है, और वह कह भी उठता है कि जो चोर होगा वह चिढ़े। खुद को बचाकर रखता है। तो ऐसे ही ये परपदार्थों के परिणमन हैं, कोई मुझे बुरा कहता है, निन्दा करता है तो यों समझना चाहिए कि यह जिसे कहता हो वह चिढ़े, मुझे तो कहा ही नहीं। मैं ज्ञानानन्दस्वरूपमात्र हूँ, इस चैतन्य स्वभाव को तो यह गाली नहीं दे रहा, इस चैतन्यस्वभाव की तो यह निन्दा नहीं कर रहा। जिसकी निन्दा करता हो वह चिढ़े। तैं तो चैतन्यस्वरूप हूँ, एक परमपदार्थ हूँ।

मुझे यह कुछ नहीं कह रहा, यह ज्ञानी का चिन्तन है। और उस ज्ञानी की जैसी उदारता है कि यों समझिये— ऐसी ही मेरी सहज वृत्ति है। जैसे आप लोग कहीं जा रहे हों और किसी पागल ने आपको गाली दे डाला तब तो कुछ भी बुरा नहीं मानते हैं, सुन लेते हैं, और कोई-कोई तो प्रसन्न होते हैं। तो जैसे पागल के द्वारा दी जाने वाली गाली और निन्दा से मनुष्यों को क्षोभ उत्पन्न नहीं होता क्योंकि वे समझते हैं कि यह पागल है, अज्ञानी है, दुःखी है, स्वयं अपने काबू में नहीं है, इसका क्या बुरा मानना। ऐसे ही ज्ञानी जीव जगत के जीवों की चेष्टा को निरखकर कभी यों भी सोच सकते हैं कि ये तो अज्ञान के वश हैं अथवा मोहमद में मलिन हो रहे हैं, इन्हें अपने आपकी सुध नहीं है इसलिए ऐसी चेष्टायें करते हैं, ऐसा जानकर उनकी चेष्टा का क्या बुरा मानना। जो कोई भी निन्दा कर रहा है वह या तो अज्ञानी होगा या ज्ञानी। तो जो ज्ञानी होगा वह तो हमें सता नहीं सकता, हमारी निन्दा कर नहीं सकता। ज्ञानी तो कभी निन्दा कर नहीं सकता। हाँ दोष हममें हों तो हमारे सुधार के लिए वह भी हमें कह सकता है तो वह तो उपकार ही है, उसका क्या बुरा मानना। ज्ञानी तो कभी निन्दा नहीं करता, अज्ञानी निन्दा करे तो उसका बुरा क्या मानना? यों ज्ञानी पुरुष दूसरे के विरुद्ध परिणमन से अपने आपमें क्षोभ नहीं लाता है। यह उसकी बड़ी विभूति है।

सांसारिक माया की उपेक्षा करके निज वैभव के निकट आने की प्रेरणा— भैया ! अपना जीवन निष्पाप यदि व्यतीत हो जाय तो इसे बहुत बड़ी विभूति समझिये। आखिर जो कुछ भी मिला है सब कुछ एक दिन छोड़कर जाना होगा। अब जैसा यहाँ जीवन बनाया, जैसे यहाँ संस्कार बनाया, जैसा यहाँ बंध किया उसके अनुसार ही वह भोगेगा। तो जीवन अपना निष्पाप व्यतीत हो, सत्य व्यतीत हो। सत्य पुरुष में एक बल रहता है। निष्पाप पुरुष में आत्मबल प्रकट होता है। पापी पुरुष शरीर के बलिष्ठ भी हों तो भी उनका आत्मा कायर हो जाता है, अतएव वह हर बात में असफल रहा करता है तो अन्तर्दृष्टि में समस्त जगत में और कोई विभूति नहीं है। ये स्वर्गों के सुख, स्वर्गों की दिव्यविभूति इसके प्रकरण को सुनकर अपने आपमें यह आस्था न बनायें कि यह बहुत महत्व की चीज है और ऐसी अवस्था हमें मिले। इससे बढ़कर और कुछ भी नहीं हैं, ऐसा रंच भी न सोचें। ये भी बड़े पुरुषों की तरह बहुत दुःखी रहते हैं। सांसारिक सुखों का स्वरूप ही ऐसा है कि जिन्हें जितना अधिक सुख प्राप्त हुआ वे उतनी ही अधिक कल्पनाएँ करके अपने आपको दुःखी कर डालते हैं। मन ही तो है। सुख में रहकर तो इसे दसों ऐब सूझते हैं, अनेक कल्पनाएँ इसमें जगती हैं। उन कल्पनाओं का ही सारा दुःख है। कोई गरीब हुआ तो वह उससे अधिक धनिकों को देखकर दुःखी होता है। तो यों शुभोपयोग को पार करके शुद्धोपयोग की प्राप्ति होती है और शुद्धोपयोग में ही कल्याणमार्ग है, इस कारण शुभोपयोग का लक्ष्य करें, शुभोपयोग के फल स्वर्गादिक वैभव हैं ऐसा सुनकर शुभोपयोग में भी उद्देश्य न बनायें और स्वर्गादिक विभूतियों में अपनी रुचि न जगायें। इस प्रकार यहाँ तीन उपयोगों का वर्णन किया गया है, और शुभोपयोग के फल से क्या मिलता है इसका इस छंद में वर्णन किया है।

### श्लोक-277

दुर्ध्यानाददुर्गतेर्वीजं जायते कर्म देहिनाम्।  
क्षीयते यन्न कष्टेन महतापि कथंचन॥277॥

**दुर्ध्यान का परिणाम—** खोटे ध्यान से जीवों की दुर्गति होती है। इसके कारणभूत अशुभकर्म का बंध होता है, जिन अशुभ कर्मों का क्षय बड़े प्रयत्नों से भी होना कठिन है। इस प्रकरण में तीन प्रकार के उपयोग बताये गए थे— शुभोपयोग, अशुभोपयोग और शुद्धोपयोग। इन तीनों का लक्षण कहा है। अब यह बतला रहे हैं कि शुभोपयोग का क्या फल है अशुभोपयोग का क्या फल है और शुद्धोपयोग का क्या फल है। अशुभोपयोग अथवा दुर्ध्यान, पाप का आशय ये सब एकार्थक हैं। अशुभोपयोग से ऐसे कर्मों का बन्ध होता है जो जीव की दुर्गति के कारण होते हैं असंज्ञीपञ्चेन्द्रिय तक तो दुर्ध्यान ही चला करता है। वहाँ तक तो श्रद्धान की योग्यता

नहीं। आहार, निद्रा, भय, मैथुन इन चार संज्ञाओं से पीड़ित आर्तध्यान और रौद्रध्यान भी इसमें सम्भव है। यह स्वयं दुर्गतिरूप है, और इस ध्यान के प्रभाव से ऐसे ही कर्मों का बन्ध होता है कि ये जीव आगे भी ऐसी ही दुर्गतियों के क्लेश पाते रहें। तो अशुभोपयोग अत्यन्त हेय है। जिस किसी भी अवस्था में यह जाना हो, चाहे सम्यक्त्व भी न उत्पन्न हुआ हो फिर भी मंदकषायों का परिणाम और व्रत, तपश्चरण, संयम की ओर से कुछ भी दृष्टि जैसी कि इसकी कल्पना में भी आयी हो वह सब ध्यान इस अशुभोपयोग से तो अच्छा ही है। हम कुछ ध्यान के लिए भी यत्न करें और साथ ही साथ संयमव्रत का भी अभ्यास रखें तो दुर्गतियों से छुटकारा तो बन जायगा। स्थूलदृष्टि से खास बात यह है कि जिस जीव के चित्त में दया नहीं उत्पन्न है उससे वैसे ही अशुभ काम बनते हैं जिससे दुर्गति सम्भव है, और जिस जीव के चित्त में दया है उस दयालु पुरुष की ऐसी वृत्तियाँ होती हैं ऐसा परिणाम बनता है कि जिससे लौकिक दृष्टि से जो सुगति मानी जाती है वह सुगम है। केवल शुभोपयोग से क्या होता है? उसका वर्णन किया है। इस श्लोक में अशुभोपयोग का क्या फल है उसका वर्णन चल रहा है। अशुभोपयोग का यह सब फल है जो जगत में दिख रहा है।

### श्लोक-278

निःशेषक्लेशनिर्मकतं स्वभावजमनश्वरम्।

फलं शुद्धोपयोगस्य ज्ञानराज्यं शरीरिणाम्॥278॥

**शुद्धोपयोग के फल का वर्णन—** शुभोपयोग का फल तो स्वर्ग वैभव बताया गया था और अशुभोपयोग का फल सांसारिक दुर्गतियों का भोगना बताया गया था। इस श्लोक में शुद्धोपयोग का फल बतला रहे हैं। शुद्धोपयोग का फल है ज्ञानसाम्राज्य। साम्राज्य भी एक ज्ञान है और शुद्ध ज्ञान तो आत्मा का साम्राज्य है ही, किन्तु जितने भी प्रकार के वैभव माने जाते हैं लोक में वे सब ज्ञान के ही तो परिणमन हैं, और जो कुछ भी दुःख माने जाते हैं वह भी ज्ञान का विपरिणमन है। बाह्य चीजों से न तो सुख होता और न दुःख होता, किन्तु ज्ञान में ही ऐसी बात आये जो मोह और राग की ओर लगाने के कारण बने तो उससे क्लेश होता है। और ज्ञान में ऐसी पद्धति बने कि जिससे वैराग्य की ओर झुकाव बने तो उससे आनन्द जगता है। बाहर में कहाँ सुख है और कहाँ दुःख है? ये बाहरी वैभव पुण्यपाप के ठाठ किसी दिन तो ये सबके सब एकदम छोड़ देने पड़ेंगे। आये हैं तो क्या और चले जायें तो क्या, ये बाहरी वस्तुओं के परिणमन हैं। यह निमित्तनैमित्तिक भावों की बात इसमें हमारी वर्तमान बुद्धि या वर्तमान पुरुषार्थ क्या मदद करेगा, किन्तु वर्तमान बुद्धि वर्तमान पुरुषार्थ एक आत्मतत्त्व के, अंतस्तत्त्व के पोषण में लगे तो ये जरूर काम करेंगे, क्योंकि यहाँ निज का ही पुरुषार्थ है और निज के लिए किया जा रहा है।

**सर्वस्थितियों में ज्ञान के साम्राज्य की झलक—** सर्वत्र ज्ञान ज्ञान का ही साम्राज्य है सब जीवों में। जहाँ कोई क्लेश होता है वहाँ भी समझिये कि ज्ञान की कला का प्रसाद है और जहाँ सुख होता है वह भी ज्ञान की कला का प्रसाद है, जहाँ आनन्द होता है वह भी ज्ञान की कला का प्रसाद है। खूब सुख साधनों में कोई हो और कल्पनाएँ मोह राग से सम्बंधित उठा ले तो सुख साधनों में रहकर भी वह क्लेश पाता है, और कोई कितना ही दीन हीन गरीब की परिस्थिति में हो, जिसे लोक में असहाय, बेचारा कहते हैं, कोई पूछने वाला भी नहीं है लेकिन इसकी ज्ञानपद्धति अपने आत्मा की ओर झुके तो इसको आनन्द है। एक दुनियावी हिसाब से सबसे अधिक गरीब परिस्थिति तो साधुओं की होती है। दि. मुनिजनों के पास न कपड़े हैं, न पैसा है, न नौकर हैं, न कोई उनके मन को रमाने वाले परिवार के लोग हैं, वन में भी रहते हैं, देखने वाले लोग तो ऐसे पुरुषों को देखकर दया कर बैठेंगे। कितनी कठिन परिस्थिति है लेकिन लोक में पूज्य वही साधु माने जा रहे हैं यह किस बात का अन्तर है? ज्ञानकला का अन्तर, सबसे विविक्त गात्र मात्र ही जिनका परिग्रह रह गया है ऐसा होकर भी उनका ज्ञान अपने ज्ञानस्वरूप की ओर झुकता है। इसका यह प्रसाद है कि बड़े-बड़े राजा-महाराजा इन्द्र भी उनके चरणों में नतमस्तक हो जाते हैं। तो सब कुछ ज्ञान का ही साम्राज्य है।

**शुद्धोपयोग में परमविशुद्ध ज्ञानसाम्राज्य—** शुद्धोपयोग में तो ज्ञान का अद्भुत साम्राज्य प्रकट हो जाता है। जहाँ सर्वप्रकार के क्लेशों से मुक्ति है— क्लेश है वहाँ जहाँ मोह और राग है, शुद्धोपयोग में मोह राग का अभाव है उस अपने आपमें दृष्टि गड़ाकर निरखें, यह तो जो है सो है, केवल है, इसका कहीं कुछ नहीं है, यह अपने आपमें मग्न हो, अपने आपकी ओर झुके, इसमें समस्त आनन्द है, दुःख का कोई काम ही नहीं है इस आत्मा में। लेकिन जो मोहीजन हैं, रागद्वेष की वृत्ति जिनकी है वे इस आत्मस्वभाव को छूते नहीं हैं। इस ओर वे दृष्टि रखते नहीं हैं अतएव बाहर ही बाहर भ्रमण कर क्लेश पाते रहते हैं। शुद्धोपयोग का फल तो ज्ञानसाम्राज्य है और ज्ञानसाम्राज्य का फल शुद्धोपयोग है, इस स्थिति में कोई भी क्लेश इस जीव को नहीं लगा हुआ है। मोही जीव व्यर्थ ही अपने आपको परेशान किए हुए हैं। और उसके फल में परेशानी ही पाते रहते हैं। किस-किस के राग में क्या नफा पाना? लाभ तो जाने दो, राग के फल में नियम से क्लेश है। राग के समय राग सुहावना लगता है, मन भी खुश होता है और यह रागी पुरुष अपना अधिकार समझता है। मैं जैसा चाहूँ वैसा हो जायगा, ऐसी मन में कल्पनाएँ बनाता है इसके फल में नियम से वह क्लेश पायगा। राग के फल में किसी को आनन्द हो ही नहीं सकता। ये सब राग छोड़ने योग्य हैं। रागभाव मुझमें उत्पन्न होते हैं यह एक विपदा है। किसी परिजन या इष्ट चीज का बिछुड़ना यह विपदा नहीं है। यह तो दुनियावी काम है, परिणामन है, पदार्थ है, ऐसा हो रहा है, पर किसी परवस्तु में जो राग का लगाव है, मोह का परिणाम है यह अपने आप पर विपदा है। इस विपदा से कोई छुटकारा पा सके तो वह सच्चा विवेकी पुरुष है, शुद्धोपयोग का फल ज्ञानसाम्राज्य है जो स्वभाव से उत्पन्न होता है। कहीं ईंट रोड़ा जोड़कर यह ज्ञानसाम्राज्य नहीं बनाया जाता, बल्कि वे परभाव ईंट रोड़ा हटाने से यह ज्ञानसाम्राज्य प्रकट होता है। तप, उपाधि, परतत्त्व इनकी दृष्टि

हटाने से अपने आपमें स्वयं ज्ञान प्रकट होता है। यह ज्ञानसाम्राज्य हमारे स्वभाव का जो उत्तम आनन्द है वह मुझमें ही मौजूद है, लेकिन यह इतना प्रमादी है कि अपने उस शाश्वत अविनाशी परमतत्त्व आनन्दस्वरूप का ग्रहण नहीं करना चाहता।

**शुद्धोपयोग के पौरुष में प्रमाद न करने का अनुरोध—** कहानियों में बताते हैं कि दो अत्यन्त आलसी थे। किसी जामुन के पेड़ के नीचे बैठे हुए थे। एक बैठा हुआ पुरुष किसी रास्तागीर से कहता है कि भाई हमें भूख लगी है ये आसपास जामुन बिखरे पड़े हैं वे बीनकर मुझे दे दो तो मैं उन्हें खाकर अपनी भूख मिटा लूँ। एक के ओंठ पर एक जामुन गिरा पडा था— वह कहता है कि भाई हमारे ओंठ पर से यह जामुन मुख में डाल दो तो इसे हम खा लें। यह आलस्य के होड़ की बात बतायी जा रही है। अतिनिकट अतिसुगम कार्य को भी न करने का भाव हो, उसे भी न कर सके उसे कहते हैं प्रमाद। तो अब सोचिये कि हमारा यह आनन्दस्वरूप आत्मतत्त्व हमारे कितना निकट है और निकट क्या, हम ही खुद हैं, और पाने की भी सुगमता कितनी है कि जरा दृष्टि को अपनी ओर मोड़ा कि उसे पा लिया, इतना सुगम अपना आनन्दस्वरूप अंतस्तत्त्व मौजूद है फिर भी उसे न ग्रहण करना चाहें तो यह प्रमाद ही तो है। यह ज्ञानसाम्राज्य स्वभाव से उत्पन्न है और अविनाशी है। सब वैभव मिलता है, बिछुड़ता है, किन्तु ज्ञानसाम्राज्य ऐसा है कि एक बार मिल जाने पर बिछुड़ने का काम नहीं। एक बार शुद्ध सिद्ध अवस्था होने पर फिर यह जीव कभी मलिन नहीं होता। तो ज्ञानसाम्राज्य अविनाशी है। यों शुद्धोपयोगी अविनाशी आनन्द की प्राप्ति बतायी गई है।

## श्लोक-279

इति संक्षेपतो ध्यानलक्षणं समुदाहृतम्।  
बन्धमोक्षफलोपेतं संक्षेपरुचिरञ्जकम्॥279॥

इस प्रसंग में यहाँ तक संक्षेप से ध्यान का लक्षण कहा गया है। यह सब वर्णन ध्यानों के फलों का संकेत करता है। शुभोपयोग व अशुभोपयोग रूप ध्यान तो बन्ध फल को देता है क्योंकि यह दोनों उपयोग सहज शुद्ध निरञ्जन अन्तस्तत्त्व के उपयोग को नहीं कर रहे हैं किन्तु किसी विकल्प को कर रहे हैं उनमें इतना अन्तर तो है ही कि शुभोपयोग से शुभबन्ध होता है और अशुभोपयोग से अशुभबन्ध होता है, किन्तु बन्ध तो है वह सब। यह सब विवरण संक्षेप रुचि से तत्त्व का जिज्ञासुओं के चित्त को प्रमुदित करने वाला है। इस मर्म के ज्ञान से भव्यजन कल्याणमार्ग पाते हैं। शुभध्यान से तो पुण्यबंध होता, अशुभध्यान से पापबंध होता और शुद्धध्यान से पापपुण्यबंध का विनाश करके मोक्ष की प्राप्ति होती है, यह वर्णन किया गया है।

**श्लोक-280**

अविद्याविक्रान्तैश्चपलचरितैर्दुर्नयशतैःजगल्लुप्तालोकं कृतमतिघनध्वान्तनिचितम्।  
त्वयोच्छेद्याशेषं परमततमोव्रातनिलयम्। प्रणीतं भव्यानां शिवपदमयानन्दनिलयम्॥280॥

परमोपकारी देवगुरुस्मारक सत्शास्त्रों के अध्ययन का अनुरोध— शास्त्र उन्हें कहते हैं जो हित का उपदेश करें। जो हित का शासन करे उसका नाम शास्त्र है। इन शास्त्रों से हमें ज्ञानप्रकाश मिलता है। हम अपने हित अहित का निर्णय करते हैं अहित का त्याग करते हैं, हित के ग्रहण का यत्न करते हैं। शास्त्रों का हम आप पर बहुत अधिक उपकार है। इन शास्त्रों के तत्त्वों में हमें गुरुराज के भी दर्शन होते हैं। जो हम शास्त्रों से तत्त्व सीखते हैं उन शास्त्रों के रचने वाले कैसे थे, क्या होंगे, ये सब अपने आपमें कल्पनाएँ दौड़ जाती हैं। और उन्होंने अपने उपयोग के लिए और पर के उपयोग के लिए जो एक महान् ग्रन्थनिर्माण का कार्य किया था उसका ही तो यह फल है कि हम आप लोग इन संसार संकटों के विनाश के लिए धर्मध्यान में लग रहे हैं। तो जब उन गुरुदेव के स्वरूप का अन्तरङ्ग चित्त में आभास होता है तो उन गुरुओं के प्रति भी भक्ति उमड़ती है और ये शास्त्र, ये सब उपदेश मूल में जिस परम्परा से आकर मिले हैं वे हैं अरहंतदेव। तो इसमें देवभक्ति उत्पन्न होती है। शास्त्र भक्ति में देव, शास्त्र, गुरु तीनों की भक्ति का प्रयोजन साधा जा सकता है। शास्त्रों से हम आपका बहुत हित है। लेकिन शास्त्र के नाम पर ऐसे भी पुरुषों ने शास्त्र रच डाला है जिन पर अविद्या का विक्रम था, अविद्या ने जिसे घेर लिया अर्थात् ज्ञानशून्य हैं और साथ ही चपल उनका चारित्र्य है और चारित्र्यशून्य हैं ऐसे लोगों ने सैकड़ों खोटे नयों में आकर इस जगत को प्रकाशहीन बना दिया है। ऐसी भी स्थितियाँ बहुत-सी हैं। अविद्या के कारण विकाररूप बन बनकर वस्तु के स्वरूप का निश्चय न होने से तथा भ्रम होने से भ्रान्त नाना प्रकार का आचरण करने वाले ऐसे अनेक मिथ्यादृष्टि पुरुषों ने एकान्तरूपी सैकड़ों दुर्नयों से जगत को प्रकाशरहित कर दिया है अर्थात् हित के मार्ग से भ्रष्ट कर दिया है। इस कारण हे ज्ञानी आत्मन् ! तू एकान्तरूप परमतों को त्यागकर मोक्षरूपी जो अतुल आनन्द है उसको प्राप्त करने का ज्ञान कर। अर्थात् दुर्नयों से हटकर सुनयों का आश्रय करके प्रमाणभूत निज आत्मगृह का आलम्बन कर।

ध्यानसिद्धि के लिए यथार्थज्ञानमार्ग में लगने की आवश्यकता— ध्यान उसके बनता है जिसके सम्यग्ज्ञान हो। जिसका ज्ञान ही विभ्रमरूप है वह ध्यान किसका करेगा? ध्यानों में ध्यान वही है जो परवस्तुओं के मोह से हटाकर अपने आपके शुद्धस्वरूप में विश्राम करा दे। जब ऐसा ध्यान बन सकता है जब हम अपनी सही जानकारी रखें। हम जगत के पदार्थों को सुखदायी मानें, धन सम्पदा को अपना प्राण मानें और इनके संचय के लिए तृष्णा में पग-पग कर अपने जीवन को लगा दें तो ऐसे जीवन में ध्यान की सिद्धि नहीं होती। हे आत्मन् ! अपने आप पर दया तो कर। अपने आपको संकटों से बचाना है ना तो संकटरहित जो ज्ञानस्वरूप

है उसकी दृष्टि तो बना। उसका ज्ञानसाम्राज्य इतना विशाल है, इस ज्ञानसाम्राज्य का इतना फैलाव है कि किसी की भी गति तीन लोक से बाहर नहीं है, किन्तु ज्ञानसाम्राज्य की गति तीन लोक से बाहर भी है, अर्थात् ज्ञान लोकाकाश को भी जानता है। जो भी सत् पदार्थ ज्ञानसाम्राज्य से बाहर नहीं हो सकते। इतना विशाल हैं वे ज्ञानसाम्राज्य का वैभव मुझमें है और फिर हम इन जगत के विनाशीक पौद्गलिक टुकड़ों के लिए तृष्णा करें, इनमें अपनी दृष्टि दिखायें, यह अपने आपके प्रभु पर कितना महान् अनर्थ किया जा रहा है, ऐसा किसी क्षण तो अपने आपमें विचार करें। जगत के जीव जिस प्रकार चलते हैं उनके चरणों को देखकर उनके समितियों को निरखकर हम अपने आपमें कुछ निर्णय बनायें तो यह तो मूढ़ता भरा निर्णय है। जैसे कोई किसी को मूर्खों का बादशाह कह दे और वह खुश हो, सही कहा ना, मूर्खों का बादशाह मायने मूर्खों में महामूर्ख। तो इसी तरह मूढ़ों की, मोहियों की, जगत के साधारण जीवों की सम्पत्ति को सुनकर उनके चरणों को निरखकर हम अपने आपके किसी कर्तव्य का निर्णय बनायें तो यह बात कहनी होगी कि हमने मूढ़ों की बादशाही ग्रहण कर ली है। हमें मोही जीवों की तरह संसार में घुल मिलकर रहना है अथवा हमें संसार के संकटों से छुटकारा पाना है। यदि संसार के संकटों से छुटकारा पाने की मन में है तो इन सबसे अपने को विरक्त निरखना होगा। मैं सबसे न्यारा केवल ज्योतिस्वरूपमात्र हूँ, ऐसे ज्ञानस्वरूप अपने आपके निरखने में शान्ति का अभ्युदय होगा। मोह में, कुज्ञान में हम आपको शान्ति का मार्ग नहीं मिल सकता। एकाकी विद्वानों ने सर्वथा एकान्त रूप कुनय को ग्रहण किया और उस कुनय को लेकर तत्त्व का प्रतिपादन किया। उसको सुनकर जगत के जीव मिथ्यामार्ग में प्रवृत्त होते हैं। ज्ञानी पुरुषों को चाहिए कि स्याद्वाद पद्धति से तत्त्वज्ञान बनाकर यथार्थमार्ग में लगे।

**अनुभवसाधक ज्ञान के साधनभूत स्याद्वाद के अभ्यास के कर्तव्य का कथन—** देखिये तत्त्व जो है सो ही है। जो तत्त्वस्वरूप है वह न एकान्त से जाना है और न उसका यथार्थ प्रकाश स्याद्वाद से होता है। वह तो अनुभव की वस्तु है, पर उस अनुभवनीय वस्तु के निकट हमें कोई ज्ञान पहुँचा सके उस ज्ञान का उदय स्याद्वाद से प्रकट होता है। कुनय से या एकान्त से वह प्रकट नहीं होता। जैसे किसी पुरुष को किसी बड़ी विभूति रुचि है तो उस बड़ी विभूति की रुचि पीछे 10-20 आदमियों की यहाँ वहाँ की बातों में अपने चित्त को नहीं उलझाता, किसी बात में हठ नहीं करता, यों समझिये तटस्थ रहता है, सबकी बात सुनता है, किसी का विरोध नहीं करता है और बात सुनकर अपने ही लक्ष्य की पूर्ति रखता है, यों ही समझिये— अंतस्तत्त्व के रुचिया ज्ञानी संत पुरुष है चूँकि उन्हें इस आनन्दस्वरूप अन्तस्तत्त्व से रुचि जगी है तो इस लक्ष्य की धुन में रहकर वह किसी भी पुरुष के एकान्त में अपना चित्त नहीं देता है। किसी भी धर्म का, किसी भी मंतव्य का हठ नहीं करता है और जो-जो कुछ भी सुनता है उन सबको सुनकर उपयोग ऐसा बनाता है जिससे अपने लक्ष्य में ही वृद्धि हो। तो समझ लीजिए कि स्याद्वाद हमें वहाँ तक उपकारी है जहाँ तक हम अनुभव में प्रवेश नहीं करते। अनुभव में प्रवेश करने के बाद स्याद्वाद का भी विकल्प नहीं रहता, और एकान्त के विकल्प

से तो अनुभव की दिशा में पहुँच भी नहीं पाते। पक्ष और हठ ये नाम से ही बुरे हैं। किसी भी तत्त्व की ओर, किसी भी निरूपण की ओर हठ हो जाय, विकल्प हो जाय तो यह उपयोग अपने स्वरूप से बाहर ही रहकर तो विकल्प करेगा। अतएव जैनशासन ने यह बताया कि व्यवहार भी एक पक्ष है तो निश्चय भी एक पक्ष है। व्यवहार यदि जीव को राग से सहित बताता है तो निश्चय जीव को रागसहित नहीं बताता, पर व्यवहार जो बताता है उसके बताने में हठ हो तो निश्चय तो बताता है उसके बताने में हठ हो तो चित्ततत्त्व का अनुभव नहीं हो पाता अनुभवन का तो प्रसाद इतना है कि चित्ततत्त्व के अनुभव के महल के निकट इस जीव को भेज दे, उसके बाद यह स्वयं ही उस तत्त्व के अनुभव में लगेगा। जैसे द्वारपाल का तो इतना ही काम है कि किसी मिलने वाले को राजदरबार के निकट भेज दे, उस द्वारपालसहित वह न मिलेगा किन्तु अकेला ही मिलेगा। यों ही स्याद्वाद के प्रसाद से निश्चयनय के प्रसाद से हम उस तत्त्व के निकट पहुँचें। अब जब हम अनुभव करें तब व्यवहार का पक्ष और निश्चय का पक्ष दोनों से रहित होकर उस शुद्ध प्रकाश का अनुभव करेंगे। उस ही के ग्रहण करने के लिए ध्यान का वर्णन चलेगा। तो उस ध्यान की कथनी अन्य लोग जिस प्रकार करते हैं उनमें कुनय है अतएव उससे हटकर स्याद्वाद के ढंग से सम्यग्ज्ञान प्राप्त करके, स्याद्वादमार्ग का शरण लेकर ध्यान का साधन करना ठीक है, यह एक स्मरण दिलाकर अब ध्यान का वर्णन इस ग्रन्थ में किया जायगा।

### श्लोक-281

यच्चतुर्धा मतं तज्जैः क्षीणमोहैर्मुनीश्वरैः।  
पूर्वप्रकीर्णकाङ्गेषु ध्यानलक्ष्म सविस्तरम्॥281॥

चतुर्विध ध्यान के विवरण की सूचना— ध्यान के जानने वाले निर्मोह मुनीश्वरों ने विचारपूर्वक ध्यान का लक्षण पूर्ण प्रकीर्णक अंगों में बताया है। द्वादशांगों में जो प्रकीर्णक प्रकरण है उन अंगों में सविस्तार वर्णन किया है। यह एक मात्र सूचना है। जितना भी ध्यान के विषय में विस्तार बना है इसका मूल वर्णन उस पूर्ण प्रकीर्णक में है।

### श्लोक-282

शतांशमपि तस्याद्य न कश्चिद्वक्तुमीश्वरः।  
तदेतत्सुप्रसिद्ध्यर्थं दिङ्मात्रमिह वर्ण्यते॥282॥

**ध्यानस्वरूप के दिग्.मात्र दर्शन की उत्थानिका—** जो वर्णन उस द्वादशांग सूत्र में है उसका 100 वां भाग भी कहने को कोई समर्थ नहीं है। द्वादशांग का इतना विस्तार है कि उसमें जितने अक्षरों का प्रमाण बैठा है उतने अक्षर में कोई ग्रन्थ की रचना तो कर नहीं सकता। द्वादशांग तो एक मौखिक परम्परा में चले हुए होते हैं। शास्त्रों में लिख-लिखकर उस समस्त विषयों को नहीं बताया जा सकता है तब फिर उसका हजारवां, लाखवां, करोड़वां हिस्सा भी कोई वर्णन करने में समर्थ नहीं है। लेकिन जो हित की चीज है उसका येनकेनप्रकारेण कुछ वर्णन करना जरूरी है। उस ध्यान की सिद्धि के लिए इस ग्रन्थ में ध्यान के सम्बंध में दिग्दर्शनमात्र वर्णन किया है। जिसका काम है उसकी दिशा को दिखा देना। जैसे कोई किसी गांव का रास्ता पूछे तो उस गांव का रास्ता चप्पा-चप्पा तो कोई बताता नहीं, एक दिशा बता देता है— इस तरह यहाँ से जावो। जो बुद्धिमान लोग हैं वे दिग्दर्शन का ही सहारा लेकर उस जगह पहुँच जाते हैं। ऐसे ही ध्यान का इसमें दिग्दर्शन कराया है, फिर भी इसमें प्रवेश करने वाले विवेकी जन हैं वे स्वयं अपने विवेक और बुद्धिबल से उसमें प्रवेश कर जायेंगे। ध्यान नाम है चित्त की एकाग्रता होने का। ध्यान में एकाग्रता तो हुई किन्तु अशुभ विषयों की ओर हुई तो वह ध्यान प्रशस्त ध्यान नहीं है। वह तो संसार को बढ़ाने वाला ही है। उस ध्यान का वर्णन करने का कोई ध्येय नहीं है और कहीं वर्णन किया भी जाता है तो उसके छोड़ने के लिए वर्णन किया जाता है। यहाँ उस ध्यान का वर्णन होगा जिस ध्यान के प्रताप से यह जीव रागद्वेष मोह से रहित होकर अपने को शुद्ध अनुभव कर ले।

**पर के उपेक्षाभाव करके ध्यान में लगने के पौरुष से दुर्लभ नरजन्म की सफलता—** हम आप लोगों ने कितनी दुर्गतियों को पार करके आज यह दुर्लभ अवसर पाया है। मनुष्य हुए, पर्याप्त हुए संगति अच्छी है, शासन भी उत्तम मिला, सभी बातें उत्तम हैं, ऐसा अवसर पाकर करने का काम तो यह है कि बाह्यपदार्थों की उपेक्षा कर दें। जहाँ जो होता है उसके जाननहार रहें और अपने अन्तःज्ञान का प्रकाश बनावें, अपने स्वरूप को निहारें, सबको न्यारा देखें, अपने आपकी ओर झुककर जो अपने आपमें मग्नता बनेगी वही हम आप लोगों के उद्धार का पुरुषार्थ है। शेष चीजें जो पुण्य पाप के अनुसार मिलती हैं, बिछुड़ती हैं, उनमें हर्ष शोक क्या, उनके ज्ञाताद्रष्टा रहना चाहिए। उद्यम तो होना चाहिए अपनी दृष्टि निर्मल बनाने की। यदि कुछ हानि होती है, इष्टवियोग होता है तो उसमें खेद न करें। नुकसान होता है तो हो, मेरा क्या जाता है, और कुछ आता है तो मेरे लिए उससे क्या रहता है। मैं तो समस्त परपदार्थों से न्यारा केवल ज्ञानवृत्ति को ही भोगता रहता हूँ इससे आगे मेरा कोई हिसाब नहीं है। यों अपने आपके एकत्व की ओर आये कोई तो वह है आत्मा का सत्य पुरुषार्थ। और शेष जो समागम लगे हैं उनमें तो कोई तत्त्व नहीं है। ऐसा जानकर ऐसा उत्साह जगाना चाहिए कि बाह्यवस्तुओं से अपने आपमें कोई सुधार बिगाड़ क्षोभ हर्ष विषाद अनुभव न हो सके। कुछ मिला तो कितना ही मिल जाय उससे क्या होता है। मेरा जो अभीष्टतत्त्व है शान्ति और आनन्द उसकी दृष्टि नहीं है तो सारा ही लोभ अगर मेरे सामने आ जाय कि लो यह है तुम्हारी विभूति तो मुझे उससे क्या

प्रयोजन? जिसे किसी इष्टवस्तु से राग है स्त्री से या किसी मित्र आदिक से और उसके छोड़ने पर वह ऐसे आशय में बन जाता है कि कोई हजारों लाखों की भी सम्पत्ति दे तो सुहाती नहीं है उसे सम्पदा से स्नेह नहीं होता। ऐसे ही जिसने अपनी सत्यसम्पदा का ज्ञान किया है, अपना जो ज्ञानानन्दस्वरूप है, जो भगवन्तों में विशद प्रकट है तो उसके पास चाहे तीन लोक की सम्पत्ति आ जाय फिर भी उससे क्या प्रयोजन? मुझे तो मेरा ही वैभव चाहिए, मेरा ही स्वरूप चाहिए। यों बहुत सी सम्पदा मिलने का कुछ भी हर्ष नहीं है ज्ञानी पुरुष तो उसे विपदा मानता है। इसी तरह सम्पदा का वियोग होता है तो और हो ले, उसके जाने से मेरा क्या बिगाड़ मैं तो आनन्दस्वरूप ही हूँ, और जिस स्वरूप में हूँ वही स्वरूप मेरे साथ रहेगा। इसमें तो कोई कुछ भी बिगाड़ नहीं कर सकता। मैं शाश्वत परिपूर्ण हूँ ऐसा अपने आपके स्वभाव की धारणा में जो दृढ़ रहता है ध्यान उसके सम्भव है। ऐसी विभूति पाने के लिए हमारी तैयारी भेदभावना से शुरू होती है।

**कषायवशीभूत पुरुष के ध्यान की अपात्रता—** जो पुरुष क्रोध, मान, माया, लोभ कषायों के रंग में रंगा हुआ है वह कहाँ से इस ध्यान का प्रसाद पा सकता है। जिसने कषायों को ढीला कर दिया है, किसी भी प्रसंग में क्रोध का संस्कार नहीं बनाता है, अपने आपमें घमंड की बात नहीं करता, मायाचार से परे रहने की जिसकी उत्सुकता जगी है, लोभकषाय के रंग में जो नहीं रंगा हुआ है वही पुरुष ध्यान का पात्र होता है। गृहस्थों में भी अनेक गृहस्थ बड़े नम्र उदार शान्त सरल हुए हैं और पाये भी जाते हैं। प्रथम तो यह बतावो क्रोध किसलिए करना, क्रोध से कुछ सिद्धि भी है क्या? सबका अपना-अपना उदय उनके साथ लगा है। जैसा उदय है होगा, क्रोध करके यह खुद अपना बिगाड़ करता है। जैसे कोई हाथ में आग लेकर दूसरे को मारे तो दूसरा जले या न जले किन्तु फेंकने वाले का हाथ नियम से जल जाता है। इसी तरह क्रोध करने वाला क्रोध करके खुद का बिगाड़कर लेता है, दूसरे का बिगाड़ हो या नहीं। तो ऐसा मानकर अपने आपमें ऐसा साहस बनाना चाहिए कि कितने ही प्रसंग आयें, मुझमें क्रोध न उत्पन्न हो, यह भी अपने आपकी रक्षा के लिए एक संकल्प है। मान तब होता है जब पर्याय में आत्मबुद्धि जगती है शरीर को निरखकर यह मैं हूँ ऐसी दृष्टि होती है, मान की बात मन में आती है, मेरा अपमान हो गया, वह मेरा-मेरा कब बकता है जब पर्याय को आत्मा माना है। अन्यथा जो मैं हूँ उसे मैं मानकर सोचूँ तो इस मुझ चैतन्य तत्त्व का अपमान कौन करता है, इसको जानता ही कौन है। तो अभिमान भी तब होता है जब मोह और मिथ्यात्व बसा हुआ होता है। उस मान से क्या सिद्धि है, किसमें मान दिखाना चाहते हो। इस जगत के सभी जीव प्रथम तो अनन्तानन्त जीवों के समक्ष हैं कितने, और फिर मोही हैं, जन्ममरण करके संसार में भ्रमण करने वाले हैं। ऐसे मलिन दुःखी जीव इस लोक में कुछ नाम बनाकर कौनसी सिद्धि पा ली जायगी। इस यश की आशा से खुद का भी बिगाड़ किया जा रहा है ऐसा जानकर इतनी उत्सुकता जगायें कि मुझे रंच भी न चाहिए नाम यश। किस बात पर लोगों से मायाचार करें। यहाँ कुछ भी वस्तु मेरे हित के लिए नहीं है मैं किसकी प्राप्ति के लिए मायाचार का परिणाम बनाऊँ। सरल रहें। जो मन में है सो वचन में कहा जाय, जो वचन में हो सो काय से किया जाय।

किससे छल करना, किससे झूठ बोलना, किसकी चुगली करना। इसमें कौनसी सिद्धि प्राप्त हो जायगी, और इन बातों में अपना दिमाग फँसाया तो और-और भी सब लौकिक हानियाँ होगी। लोभ के रंग में रंगकर अपने आपका घात क्यों किया जा रहा है। इन अनन्तानन्त जीवों में से 4-6 जीवों को ही अपना सर्वस्व मानकर लोभ किया जा रहा है। लोभ कर करके जो धन जोड़कर रखा जायगा उसमें यह विकल्प कि मुन्ना मुन्नी को छोड़ जायेंगे। ठीक है पर यह बतावो कि वे कौन हैं तुम्हारे? मरण होने पर तो साफ ही निर्णय हो जाता, और इस जीवन में भी है नहीं कोई। और, फिर लोभ से धन नहीं जुड़ता है। निर्लोभ भाव होने पर पुण्याशय से सम्पदा जुड़ती है, लोभ के रंग में रंगकर कोई सिद्धि नहीं पायी जा सकती है। तो जो चार प्रकार की कषायों को ढीला कर दे और अपने आपके स्वरूप में मग्न होने की उमंग रखे, ऐसी धुन जिसके बन जाय वही पुरुष ध्यान का पात्र होता है।

**आत्मध्यान की धुन होने में भलाई—** व्यवहारिक बातों में भी परख लो किसी चीज का लोभ बन जाय, कोई चीज अधिक सुहा जाय तो निरन्तर, उसके ध्यान में वह उत्सुक पुरुष भोजन भी छोड़ देगा, आराम भी छोड़ देगा, बड़ा कष्ट भी भोगेगा। एक तुच्छ असार बात मन में समा जाय तो उसके पीछे बड़ा श्रम कर सकते हैं तो कोई विवेकी साधु तपस्वी एक इस चैतन्यस्वरूप के प्रेम की धुन में अनशन तपश्चरण आदिक काय क्लेश करे तो इसमें आश्चर्य की कौनसी बात है। ठीक ही कर रहे हैं, तो मूलसिद्धि तो यही है कि हमारी स्वरूप की प्राप्ति के लिए धुन बन जाय। जगत में बहुत से पदार्थों के पाने की कोशिश की, उनकी धुन में रहे, और बड़ा भ्रम किया, पर हाथ कुछ नहीं लगा। अब जरा एक उपाय अपने आपके स्वरूप की प्राप्ति का तो कर लें, उस धुन में तो रह जायें, और उसका भी परीक्षण कर लें कि अपने को कुछ मिलता है अथवा नहीं। जहाँ सैकड़ों परीक्षण कर डाले शान्ति और सुख की आशा में वहाँ एक परीक्षण यह भी तो करके देख लें। सबसे ममत्व हटाकर देह से भी न्यारा केवल ज्ञानमात्र स्वरूप को निरखने की धुन बनायें, यह भी तो परीक्षण करके देख लें। सैकड़ों परीक्षण असफल हुए, फिर भी उनकी धुन नहीं छोड़ सके तो एक परीक्षण जो अभी तक नहीं किया है उसको भी कर लें। अपने जीवन का एक ऐसा अवसर तो बनायें कि अपने आपके स्वरूप का दर्शन तो किया जा सके ऐसी जिज्ञासा बनाना यही है ध्यान की एक तैयारी। और फिर उस ध्यान के तत्त्व में बढने पर क्या अनुभव होंगे वे तो सब अद्भुत हैं। उसही ध्यान के विषय में यहाँ वर्णन किया जायगा।

### श्लोक-283

अन्वयव्यतिरेकाभ्यां गुणदोषैः प्रपञ्चितम्।  
हेयोपादेयभावेन सविकल्पं निगद्यते॥283॥

**आर्तध्यान का वर्णन—** ध्यान का लक्षण, ध्यान के गुण, ध्यान के दोष, ध्यान का अन्वय, ध्यान के व्यतिरेक का फल आदिक बहुत से प्रकरण बताये जायेंगे। उन सब प्रकरणों से यह ध्यान नाना विकल्पों से उठाकर अर्थात् नाना परिस्थितियों से भेदभाव को प्राप्त हुए ध्यान का वर्णन किया जायगा। प्रथम तो यह वर्णन होगा कि कैसे गुण हों तो वहाँ धर्म होता है। दूसरा व्यतिरेक मुखेन वर्णन होगा कि जहाँ ऐसे दोष हो वहाँ ध्यान नहीं होता। अप्रशस्त ध्यान तो हेय है और प्रशस्त ध्यान उपादेय है। इसका भी वर्णन विशेषरूप से कहा जायगा। प्रथम तो इन ध्यानों के शब्द का अर्थ लगावो। आर्त मायने क्लेश। क्लेश में जो ध्यान उत्पन्न होता है वह है आर्तध्यान। तो आर्तध्यान के जो भेद हैं— इष्टवियोगज, अनिष्टसंयोगज और निदान। इष्ट वियोग होने से उसके मिलाप का जो चिन्तन चलता है वह है इष्टवियोग आर्तध्यान। अनिष्टवस्तुओं का जो ध्यान चलता है वह है— अनिष्टसंयोगज आर्तध्यान, शारीरिक वेदना होने पर जो क्लेश का अनुभव होता है वह वेदनाप्रभव और कल्पित इष्टवस्तुओं को पाने की आशा रखना सो निदान है। निदान में भी घोर दुःख है। आशा-आशा में ही यह जीव अपने आपको कष्टमय बना लेता है। तो आर्तध्यान वहाँ है जहाँ दुःखमयी ध्यान हो।

**रौद्रध्यानों का विवरण—** रौद्रध्यान वह है जहाँ रौद्रभाव उत्पन्न हो। रौद्र मायने क्रूरता। इस क्रूरता में यह जीव मौज मानता है। इसके 4 प्रकार हैं— हिंसानन्द, मृषानन्द, चौर्यानन्द और विषय संरक्षणानन्द। हिंसा करते हुए कराते हुए, हिंसा का उपाय बताते हुए मौज मानना सो हिंसानन्द रौद्रध्यान है हिंसा क्रूरता बिना नहीं हो सकती। क्रूरता होने पर यह जीव मौज मानता है। झूठ बोलने में, स्वार्थ साधने में बहुत से लोग अपनी चतुराई मानते हैं। झूठ बोलकर आनन्द मानना, यहाँ वहाँ चुगली करके आनन्द मानना यह सब है मृषानन्द। यह भी कार्य क्रूरता बिना नहीं हो सकता। सरल पुरुष इस प्रकार के कार्य नहीं कर सकता है। चौर्यानन्द में भी क्रूरता है, किसी का हर लेना और चुरा लेना और उसमें मौज मानना यह चौर्यानन्द रौद्रध्यान है। इसमें भी क्रूरता भरी है। सरल पुरुष ऐसी प्रवृत्ति नहीं कर सकता है। और देखिये— जिस आत्मा को झूठ बोलने की , चोरी करने की आदत पड़ जाती है अथवा ऐसी वृत्ति बन जाती है उस पुरुष का सब कुछ नष्ट हो गया। उसमें शान्ति और निराकुलता पाने की योग्यता नहीं रहती। चोरी करके धनिक बनने वाले पुरुष को कहीं निराकुल नहीं देखा होगा और एक न्याय से बिना चोरी के किसी भी प्रकार दरिद्र रहकर भी गुजारा करने वाला पुरुष सुखी मिलेगा, प्रसन्न मिलेगा। गान तान से अपने जीव को यों ही हँसी खुशी में बिताने वाला मिलेगा। तो चोरी करके आनन्द मानना सा चौर्यानन्द रौद्रध्यान है। पाँच इन्द्रिय और छठा मन इन इन्द्रिय के विषयों के संरक्षण में उनके साधनों के संचय में आनन्द मानना सो विषयसंरक्षणानन्द रौद्रध्यान है। जो अपने प्रति क्रूर बन जाय अपने आत्मप्रभु पर क्रूरता का प्रहार करे वही पुरुष तो विषयों से प्रीति कर सकता है जिसे अपने आप पर दया नहीं है, अपने आपकी ओर निगाह भी नहीं रखता, जैसे कि लोग कहने लगते कि आप तो मेरे ऐसे खिलाफ हो गए कि मेरी ओर दृष्टि भी नहीं दिया करते। यों ही जो अपने इस

आत्मप्रभु के खिलाफ हो गया कि किसी क्षण इसकी ओर निहारता तक भी नहीं है ऐसे पुरुष की प्रवृत्ति होती है जगत के इन पौद्गलिक पदार्थों के संचय करने की। जोड़ते जावो, जुड़ गया, उनमें यह वृत्ति नहीं हो सकती है कि अपने को जो मिला है वह है पर के उपकार के लिए। तो विषयसंरक्षण करते हुए में आनन्द की बात मानना भी क्रूरता में ही सम्भव है। क्रूरता बिना परिग्रह का संचय नहीं होता इसमें भी दोहरी क्रूरता हैं प्रथम तो अपने लिए क्रूर बन गया, अपनी भी वह सुध नहीं रखता और दूसरे को सताये बिना, कुछ दुर्व्यवहार किये बिना, छल कपट आदि अनेक बातें किए बिना इतना बड़ा संचय नहीं होता। संचय तो होता है पुण्याशय से। कोई बेईमानी करके भी धन संचय कर ले तो यही सोचना चाहिए कि बेईमानी करने से धन का संचय नहीं हुआ किन्तु पुण्य के उदय से हुआ है। तो परिग्रह का संचय भी क्रूरता के बिना सम्भव नहीं है। यों चार प्रकार के रौद्रध्यानों में भी क्रूर आशय है।

**अप्रशस्त ध्यानों को छोड़कर ब्रह्मस्वरूप की ओर आने का संकेत—** अप्रशस्त ध्यानों के द्वारा यह जीव निज परमात्मतत्त्व पर आक्रमण किया करता है। उन ध्यानों को छोड़कर शुभ ध्यानों में प्रवृत्ति बने ऐसा उद्यम करना है। उसके लिए साधन यह है कि क्रोध, मान, माया, लोभ इन चार कषायों को ढीला करें, इन कषायों से विराम लेकर अपने आपकी ओर झुकने का यत्न करें। जो अपनी ऐसी सावधानी और साधना बनायेगा वह ध्यान करने का पात्र है। आत्मध्यान से जो उसे अपने आपमें समृद्धि मिल सकती है उसका यह ध्याता अधिकारी है। यों ध्यान के विवरण में कुछ अपने आपके लिए भी शिक्षा लेते रहना चाहिए कि हमारा क्या कर्तव्य है और इस प्रसंग में हम कितना अपने को निभा सकते हैं, शक्ति न छिपाकर हम अपने आपको उस ध्यान के सिलसिले में ढालें और इस जीवन का कुछ लाभ उठायें, बाकी तो जो समागम हैं उनकी ममता में अनन्तकाल बीता पर कुछ भी सिद्धि न हुई और न होगी, क्योंकि सब जुदे हैं। यह सबसे निराला है। ऐसा अपने आपको एकाकी समझकर अपने को अपना उत्तरदायी जानकर पर से विराम लें और अपने आपके आशय की स्वच्छता

बनायें, इसमें ही अपना कल्याण है।

## श्लोक-284

ध्याता ध्यानमितस्तदङ्गमखिलं दृग्बोधवृत्तान्वितं। ध्येयं तद्गुणदोषलक्षणयुतं नामानि कालः फलम्॥  
एतत्सूत्रमहार्णवात्समुदितं यत्प्राक् प्रणीतं बुधैः। तत्सम्यक् परिभावयन्तु निपुणा अत्रोच्यमानं क्रमात्॥284॥

**ध्याता, ध्यान और उसके अङ्ग के वर्णन की सूचना—** ज्ञानी पुरुषों ने ज्ञान से सम्बंधित जिन-जिन विषयों पर बहुत प्रणपन किया है वे ही समस्त बातें इस ग्रन्थ में क्रम से कही जायेंगी। इससे सम्बंधित

जितनी बातें जानना आवश्यक है। प्रथम तो ध्याता कैसा होना चाहिए क्योंकि ध्यान जिसे करना है, ध्यान जिसे मिलना है उस ध्याता की पात्रता हुए बिना ध्यान में सिद्धि नहीं हो सकती। और, ध्याता को प्रथम तो अपने आपमें ऐसा निर्णय कर लेना चाहिए कि हम ध्यान करने के पात्र हुए हैं अथवा नहीं। वे सब बातें ध्याता के लक्षण से जानी जायेंगी। दूसरी बात समझनी चाहिए ध्यान की। ध्यान का स्वरूप क्या है, ध्यान का विस्तार कैसा है, ध्यान का लक्षण जानना चाहिए और उस ध्यान के अंग भी जानना चाहिए। ध्यान के क्या-क्या अंग हैं। ध्यान के अंगों में मुख्य अंग तो विश्वास, ज्ञान और लगाव है, श्रद्धान, ज्ञान और चारित्र है। जिस ओर रुचि होगी, श्रद्धा होगी, मनुष्य का ज्ञान उस ओर ही लगेगा। और ज्ञान के निरन्तर एक ओर लगे रहने की वृत्ति को चारित्र कहते हैं। तो ध्यान का मुख्य सम्बंध श्रद्धान, ज्ञान और चारित्र से है। जो ध्यान के मुख्य अंग हैं उनके कोई साधन तो बनाये नहीं किन्तु जो ऊपरी सहायक बातें हैं— प्राणायाम या नाना प्रकार के शरीर की साधना तो उन ऊपरी प्रयत्नों से ध्यान में सिद्धि नहीं हो पाती। क्योंकि ध्यान के प्रधान अंग हैं आत्मा से सम्बंधित, शरीर से सम्बंधित नहीं हैं। तो श्रद्धान हमारा आत्मतत्त्व का हो और इस ही का परिज्ञान हो और ऐसे ही उपयोग में हम निरन्तर रह सकें तो यह श्रद्धान, ज्ञान, चारित्र का प्रताप होगा कि ध्यान की सिद्धि होगी। ध्यान संसार के प्रत्येक जीव में पाया जाता है, पर जीवों का जैसा विश्वास हो वैसा ही उनके ज्ञान चलता है और वैसा ही उनकी प्रवृत्ति चलती है। तो उनका ध्यान उस ही प्रकार का होता है। अनन्तानन्त जीव तो आर्तध्यान और रौद्रध्यान में कलुषित हो रहे हैं, कुछ ही विवेकी जीव हैं जो धर्मध्यान के पात्र हैं। तो जैसा हमारा श्रद्धान है, जैसा ही ज्ञान है, जैसा ही चारित्र है वैसा ही ध्यान बनता है। हमें मोक्षमार्ग का उपकारी ध्यान यदि करना है तो मोक्षमार्गविषयक श्रद्धान, ज्ञान और चारित्र होना चाहिए। तो ध्यान के मुख्य अंग हैं—दर्शन, ज्ञान और चारित्र। इन प्रधान अंगों समेत जो अन्य अंग हैं उन सबका वर्णन इसमें किया जायगा।

**ध्याता के ध्येय के वर्णन की सूचना—** चौथी बात समझनी चाहिए ध्येय। हमारा ध्येय क्या है। लोकव्यवहार में ध्येय कहते हैं किसी भी प्रकार की स्थिति पाने को। आखिर आपका इन सब बातों में ध्येय क्या है, अर्थात् आप क्या करना चाहते हैं वह ध्येय कहलाता है लोकव्यवहार में, और यहाँ परमार्थ में किसी स्थिति पाने का नाम भी ध्येय है, मगर मुख्यतया जिस एक चित्स्वरूप का ध्यान किया जाता है वह चित्स्वरूप ध्येय है। क्या बनना है यह भी ध्येय नहीं रहता जहाँ उत्कृष्ट ध्यान होता है। उत्कृष्ट ध्यान में ध्येय एक आत्मस्वभाव है, वह केवल ध्येय है, कामना कुछ नहीं। किसी भी स्थिति को प्राप्त करने की चाह नहीं है, किन्तु जो वास्तविक परमार्थ तत्त्व है वह तो ज्ञान में आयगा ही, बस वह परमार्थभूत तत्त्व ज्ञान में आता रहे यह है उत्तम ध्यान और इस ध्यान का ध्येय है वह शाश्वत निरपेक्ष अकारणआत्मस्वभाव। तो ध्येय का भी वर्णन इसमें किया जायगा, फिर ध्येय में क्या गुण हैं, क्या दोष हैं, यह भी कहा जायगा, संसार के जीव

जिस जिसको ध्येय बताते हैं उस ध्येय में क्या दोष है अथवा क्या गुण है, इसका भी ज्ञान करना चाहिए। ये तो सब तत्त्व से सम्बन्ध रखने वाली बातें हैं।

**ध्यान के समय व फल के वर्णन की सूचना—** इनके अतिरिक्त ध्यान का समय भी जानना चाहिए। किस समय ध्यान करें। बड़ा वितंडवाद का समय हो जहाँ शोरगुल हो, जहाँ सूर्यग्रहण चन्द्रग्रहण आदिक शोरगुल वाला समय हो या अन्य किसी विशिष्ट पुरुष के आने जाने का समय हो या अन्य भी ऐसे समय जिनमें चित्त की एकाग्रता नहीं बनती है वह समय टालना चाहिए और योग्य समय में ध्यान करना चाहिए। वे योग्य समय क्या-क्या हैं इसका वर्णन इसी ग्रन्थ में किया जायगा। ध्यान का फल भी समझना चाहिए, क्योंकि विवेकी पुरुष किसी इष्ट और हितरूप प्रयोजन के बिना कार्य नहीं करते। बिना प्रयोजन जो कार्य करे लोग उसे पागल कहा करते हैं। देखा होगा पागल कहाँ जाता है, कहाँ आता है, कहाँ बैठता है, क्या बोलता है, क्या करता है, उसकी समस्त क्रियाओं का कोई प्रयोजन नजर नहीं आता। उसकी बेसुध धुनि है, दिमाग ठिकाने नहीं है, सो बिना प्रयोजन ही वह अनेक काम करता है, किन्तु विवेकी पुरुष प्रयोजन के बिना कोई प्रवृत्ति नहीं करता। तो हम ध्यान में अपनी प्रवृत्ति करें इससे हमें प्रयोजन भी तो समझना चाहिए। ध्यान का फल हमें क्या प्राप्त होगा, और किस प्रयोजन के लिए हम ध्यान करने चलें, इस सम्बंध में दो स्थितियाँ होती हैं। प्रथम तो ध्यान के प्रयोजन पर दृष्टि होती है— मुझे संसारसागर से तिरना है, अब्यावृत पद में अपने को लगाना है समस्त संकटों को दूर करना है, विशुद्ध निराकुल आनन्द की प्राप्ति करना है यह प्रयोजन रखकर ध्याता ध्यान करता है लेकिन जब ज्ञान की ओर स्वच्छता प्रकट होती है तो उन्हें इसका भी विकल्प नहीं रहता कि मुझे निराकुल सुख पाना है, शान्ति और आनन्द की प्राप्ति करना है, ऐसे भी विकल्प उनके नहीं रहते, किन्तु तत्त्व है, चीज है, जो परमार्थभूत है वह ज्ञान से कैसे वंचित रहे और वही एक सत्य है। तो असत्य में दिल लगाने का प्रयोजन तो कुछ रहा नहीं। तो जब अशुद्ध पदार्थ में, मायामय पदार्थ में उपयोग लगाने का कोई प्रयोजन नहीं रहा तो सहज ही उसका ध्यान, उसका ज्ञान शुद्ध परमार्थस्वभाव पर पहुँचता है, फिर अन्त में प्रयोजन के विकल्प से रहित होकर उसकी ध्यानवृत्ति बनती है, पर ध्यान का फल समझे बिना ध्यान में प्रवेश नहीं होता। तो इन सब तत्त्वों का वर्णन पूर्वाचार्यों ने जो दर्शाया है, अंग पूर्वो के सूत्र महासमुद्र से इन रत्नों को निकालकर जो कुछ-कुछ प्रकट किया है वे सब बातें इस ग्रन्थ में क्रम से कहीं जायेंगी। जो कुशल हैं, आत्मदया की जिनके विशिष्ट धुन है उन पुरुषों को चाहिए कि इन सब अंगों के स्वरूप का अभ्यास करें। अपने आपको परपदार्थ से हटाकर अपने आपके स्वरूप में लगावो, यही एक सारभूत पुरुषार्थ है।

## श्लोक-285

ध्याता ध्यानं तथा ध्येयं फलं चेति चतुष्टयम्।

इति सूत्रसमासेन सविकल्पं निगद्यते॥285॥

**ध्याता, ध्यान, ध्येय और फल के वर्णन का उपक्रम—** उक्त छंद में जिन-जिन अंगों को बताया है उन सबको संक्षेप में किया जाय तो चार बातें रख लीजिए— ध्याता, ध्यान, ध्येय और फल — इन चार चीजों का संक्षेप से भेद सहित निरूपण किया जायगा। किसी भी कार्य को करें तो उसमें चार का सम्बंध रहता ही है— कर्ता, क्रिया, कृत्य और क्रियाफल। ये चार बातें समझे बिना किसकी प्रवृत्ति होती है। तो यहाँ ध्यान के प्रकरण में भी इन चार बातों का जानना अति आवश्यक है। इन चार बातों में सर्वप्रथम ध्याता का वर्णन कर रहे हैं। ध्याता कैसा होना चाहिए।

### श्लोक-286

मुमुक्षुर्जन्मनिर्विण्णः शान्तचित्तो वशी स्थिरः।

जिताक्षः संवृतो धीरो ध्याता शास्त्रे प्रशस्यते॥286॥

**प्रशंसनीय ध्याता का निर्देश और अपना कर्तव्य—** शास्त्र में ऐसे ध्याता की प्रशंसा की गई है जो मुमुक्षु, मोक्ष की इच्छा रखने वाले अर्थात् संसार के संकटों से छूटने की अभिलाषा रखते हैं। जो ध्यान करने वाला है उसका कुछ लक्ष्य तो होना चाहिए- किसलिए ध्यान किया जा रहा है। संसार से छूटने के लिए ध्यान की प्रवृत्ति हो रही है। तो जो मुमुक्षु पुरुष है वही ध्याता हो सकता है। जब-जब भी ध्यान, ध्याता, ध्येय ये शब्द आये तब मोक्षमार्ग से सम्बंधित ध्याता ध्यान आदिक समझना चाहिए। तो ध्याता मुमुक्षु हुआ। कोई यदि मोक्ष की चाह नहीं रखता तो मोक्ष के कारण भूत ध्यान को कैसे कर सकता है। हम इन बातों की रोज-रोज कोशिश करें प्रभुदर्शन में प्रभुस्तवन में और अन्य धर्मकार्यों में इस बात पर अपना बल दें कि इस अमूर्त निज ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा को सर्वप्रकार के लेप से रहित होना है। आनन्द उस ही स्थिति में है। इन मायामयी पदार्थों के समागम में झमेलों में आनन्द कुछ नहीं है। व्यर्थ के विकल्प हैं कुछ आया, कुछ गया, कुछ रहा, कुछ देखा, निरन्तर विकल्प ही विकल्पों में यह ज्ञानानन्दस्वरूप परमात्मतत्त्व झुलसा जा रहा है। यहाँ सार का नाम भी नहीं है। मेरा सारभूत, हितभूत, शरणभूत सर्वस्व मुझमें ही है। वह है मेरा सहज चैतन्यस्वरूप। देखिये अधर्म करने के लिए बड़ा श्रम करना पड़ता है और धर्म करने के लिए विश्राम किया जाता, पर मोह का ऐसा तीव्र उदय है कि जगत के प्राणी श्रम में तो लग रहे हैं और विश्राम की बात उन्हें कठिन लगती है। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह और और भी व्यसनों की प्रवृत्तियाँ इन सब पापकार्यों में कितना श्रम करना पड़ता है, कितने विकल्प बनाने होते हैं, कितनी चेष्टायें करनी पड़ती हैं, कितनी तरह के मायाचार

करने होते हैं, लोक का भी कितना बोझ ढोना पड़ता, इन अधर्मरूपी प्रवृत्तियों में सदा श्रम ही श्रम बना रहता है, और इतना ही नहीं— नींद भी लें तो सोते हुए में भी विकल्पों का श्रम लगा रहता है। अधर्म में बड़ा श्रम करना पड़ता है किन्तु धर्म में अधर्म के सारे श्रमों को दूर करने से धर्म प्रकट होता है। अतएव वहाँ विश्राम ही करना होता है। धर्म आत्मा का ध्यान स्वभाव का अवलम्बन है केवल सत्य जाननहार रहना है यही आत्मधर्म है। मात्र जाननहार रहें ऐसा करने में शरीर का श्रम किसे करना पड़ता है? शरीर की सारी चेष्टाएँ समाप्त हो जाती है। इस ज्ञाताद्रष्टा रहनेरूप धर्म के लिए वचनों का कहाँ श्रम करना पड़ता है। क्या बोलने की आवश्यकता है। बोलना चालना तो तब हुआ करता है जब यह ज्ञाताद्रष्टा रहनेरूप धर्म में स्थित नहीं हो पाता। चाहे वह बोलना इस धर्म के लिए ही क्यों न हो पर बोलने की प्रवृत्ति धर्म में दृढ़ स्थिरता न होने के कारण होती है। यहाँ वचनों का भी श्रम करना पड़ता, पर वचनों को गुप्त करने से यह धर्म प्रकट होता है। इसी प्रकार इस धर्मपालन में मन का भी श्रम नहीं करना पड़ता। ऐसे सहज सुगम स्वाधीन धर्मपालन में प्रमाद नहीं करना अपना कर्तव्य है।

**धर्म और धर्मपालन की सुगमता—** भैया ! कुछ ऐसा लगता होगा कि धर्म तो मन की ही बात है। मन से ही करें विचार बढ़ाकर करें तो धर्मपालन होता है लेकिन यह जानना चाहिए कि मन की शुभचेष्टा से, मन के द्वारा विशुद्ध चिन्तन करने से जो इतनी अन्तर्वृत्ति जगती है वह धर्मपालन नहीं है किन्तु उपधर्मपालन है। अर्थात् इस उत्तम निर्विकल्प ज्ञाताद्रष्टा रहनेरूप धर्म के निकट ले जाने वाला वितर्क है। जिस वितर्क के द्वारा हम इस निर्विकल्प धर्म के निकट पहुँचते हैं। इस धर्मपालन में मन के भी श्रम की भी आवश्यकता नहीं है। भले ही धर्मपालन से पहिले शुभोपयोग में इस मन, वचन, काय की शुभचेष्टाओं की परिणति रहती है और शुभ परिणति हुये बिना, शुभोपयोग हुए बिना शुद्धोपयोग का भी प्रवेश नहीं हो पाता। लेकिन जब साक्षात् निर्णय की बात कही जाय तब यह कहना होगा कि जहाँ मन, वचन, काय की क्रियाएँ शान्त हो जाती हैं वहाँ धर्म का प्रकाश होता है। धर्मपालन करने में श्रम नहीं करना पड़ता किन्तु एक विशुद्ध विश्राम मिलता है। लेकिन मोह का ऐसा तीव्र उदय होता है कि जगत के जीवों को विश्राम का काम तो कठिन लग रहा है और श्रम के काम सरल लग रहे हैं। जैसे दृष्टान्त में धनार्जन और ज्ञानार्जन की बात रखिये— इन दोनों में कौनसा काम करना सरल है? बहुत से पुरुषों का उत्तर तो यह आयगा कि धनार्जन करना सरल है, ज्ञानार्जन करना कठिन है, पर ऐसी बात नहीं है। धनार्जन करना तो अपने हाथ की चीज नहीं है, यह कठिन बात है पर ज्ञानार्जन करना बड़ी सरल बात है। लोग कहते हैं कि बैठ गये दुकान में, कारखाने में, हजारों रुपये की आमदनी होती है, धनार्जन करना तो अपने बायें हाथ का खेल है, पर ऐसी बात नहीं है। धनार्जन करना सुगम तो क्या, अशक्य है। कोई आत्मा धन का अर्जन कर नहीं सकता। ये बाहरी बातें जो हो रही हैं पुण्यपाप के उदय से हो रही हैं। इसमें कुछ भी यह जीव नहीं करता है। अच्छा आप यह बताइये कि दूसरे की जेब से पैसा निकलना सरल है या कठिन? अभी उत्तर यह चल रहा था कि सरल है। और आपका जो

स्वरूप है ज्ञान उस ज्ञान का अर्जन सरल है या कठिन है? तो अभी मोही जीवों का उत्तर था— कठिन है। लेकिन कुछ भी विवेक से विचार करें तो स्पष्ट समझ में आयगा कि ज्ञानार्जन तो अति सरल है और धनार्जन कठिन क्या अशक्य है। कल्पना में मान लो वह बात और है। आत्मा तो अमूर्त ज्ञानानन्दस्वभावमात्र है उसमें अर्जन होगा तो या तो अज्ञान का या ज्ञान का। ध्यान का तो कोई सवाल ही नहीं है। तीसरी चीज का वहाँ प्रवेश ही नहीं है। धन मकान की बात कौन कहे। तो जब जीव अपने आपके स्वरूप से परिचित हो जाता है और इस ही कारण उसका यह निर्णय हो जाता कि जैसा सहजस्वरूप है वैसा मैं अपने को प्रकट कर सकता हूँ, अर्थात् जो अलाबला इसमें लग गया है उससे मैं छूट सकता हूँ, तो इन संसार विडम्बना से छूटने की अभिलाषा जगती है।

**प्रशंसनीय ध्याता—** संसारसंकटों से छूटने की जिसके अभिलाषा बनी हो वह मुमुक्षु ध्याता हो सकता है। वही ध्याता प्रशंसनीय है। ध्याता कैसा होना चाहिए, इस प्रकरण में ध्याता की विशेषता कही जा रही है। वह जन्मनिर्विण्ण हो अर्थात् संसार से विरक्त हो। द्रव्यसंसार और भावसंसार जिसे सुहाता हो ऐसे पुरुष का ध्यान आत्मसाधना में कैसे लग सकता है। ये विषयप्रलोभन, विषयसाधन इस जीव के लिए बड़ी विपदायें हैं और, जब कुबुद्धि उत्पन्न होती है तो ये विपदायें नहीं जंचती। वे बड़े सुखदायी हितकारिणी मालूम होते हैं? पर विषयकषायों का छा जाना यह जीवों पर घोर संकट है। वही पुरुष वास्तविक प्रसन्न है जिसकी रुचि शुद्धस्वरूप में लगी हो, परमात्मभक्ति में, तत्त्वचिन्तन में लगी हो। तो जो संसार से विरक्त है वही पुरुष प्रशंसनीय ध्याता है, क्योंकि संसार की जिसकी रुचि हो वह ध्यान लगायेगा कहाँ, संसार में ही, विषय में ही। वह ध्यान प्रशस्त ध्यान नहीं है। ध्याता पुरुष वही प्रशंसनीय है जो शान्तचित्त है। जैसे कोई मनुष्य किसी लौकिक कार्य को क्रोध करके कर सकता है ना? अच्छा हटो जी यहाँ से, तुम नहीं करते हो तो मैं करता हूँ देखो मैं करता हूँ, सबको हटावो यहाँ से। इस कार्य को मैं करूँगा। क्रोध कर करके जैसे लौकिक कार्यों को किया जा सकता है। किसी नौकर ने काम बिगाड़ दिया तो क्रोध करके उसे हटावो और क्रोध में रह रहकर उस कार्य को कर लिया जाता है। जाने आने का काम, रसोई पानी का काम ये सब काम क्रोध करके किए जा सकते हैं ना? तो कोई पुरुष यदि क्रोध करके, गुस्से में आकर कहे कि हटो जी मैं धर्म करता हूँ तो क्या क्रोधपूर्वक धर्म किया जा सकता है? आना, जाना, बैठना, भागना ये तो क्रोधपूर्वक किये जा सकते हैं पर धर्मसाधना क्रोधपूर्वक नहीं की जा सकती है। क्रोधपूर्वक की बात जाने दो किन्तु ध्यान करने से घंटों पहिले से शान्ति होते रहना चाहिए तब ध्यान बन सकता है। जो शान्तचित्त है, जिसकी शान्ति की प्रकृति है वही वास्तव में प्रशंसनीय ध्याता हो सकता है। ध्याता को इन्द्रियवशी होना चाहिए। जिसकी इन्द्रियाँ वश हों वह इन्द्रियविषयों के अधीन न हो, जिसका मन वश हो वही पुरुष प्रशंसनीय ध्याता हो सकता है। मन को वश किये बिना यह ध्यान में कैसे लगेगा? यह मन तो राग के विषयभूत अनेक पदार्थों में दौड़ता रहेगा तो वहाँ

ध्यान की सिद्धि नहीं बन सकती। इस प्रकार ध्याता के कुछ विशेषण बताये हैं और आगे भी सुनोगे कि ध्याता पुरुष कैसा होना चाहिए, कौनसा ध्याता प्रशंसनीय है।

**प्रशस्त ध्याता के चिह्नों में मुमुक्षुता, जन्मनिर्विण्णता, शान्तचित्तता, वशिता व स्थिरता का कथन—** संसार के समस्त संकटों को मिटाने के लिए अतित आवश्यक आत्मध्यान में जो उपक्रम करते हैं ऐसे महापुरुष ध्यान को प्रारम्भ करते हैं, और उनकी पात्रता कैसी है, किस प्रकार के वे पुरुष होते हैं जो ध्यान में सफल हो जाते हैं उनका वर्णन किया जा रहा है। जो ध्याता होना चाहता है उसमें इतनी पात्रताएँ होनी चाहिएँ। प्रथम तो वह मुमुक्षु हो, संसार के संकटों से छूटने की उसके अभिलाषा हो, दूसरी बात— वह संसार से विरक्त हो। संसार के समस्त समागमों को मायारूप अहितकारी भिन्न समझकर उनसे विरक्त रहता हो, तीसरी बात— वह शान्त चित्त हो, चौथी बात— इन्द्रिय और मन को वश करने वाला हो। इन चार विशेषताओं के बाद अब पाँचवी विशेषता कह रहे हैं कि वह स्थिर हो। जिसका मन स्थिर हो उसमें अन्य द्रव्य भी अस्थिरता उत्पन्न नहीं कर सकते। और शरीर से भी स्थिर हो, अपने आसन में साङ्.गोपाङ्ग दृढ़ हो सकता हो, तब शरीर बहुत देर तक ठहर जाता है और, जब ध्यान में शुद्ध आशय नहीं है, आत्मध्यान में मन नहीं लगता है तब उस समय आसन जरा-जरासी देर में बदले जाते हैं। किसी बात का विशेष ध्यान बन जाय तो आसन बार-बार नहीं बदले जाते हैं। तो कुछ ध्यान की एकाग्रता की ओर से ऐसा बल मिला कि शरीर के आसन अस्थिर नहीं रहें। इस शरीर की स्थिरता से यह बल मिला कि ध्यान की एकाग्रता बनी। ध्याता पुरुष को स्थिर होना चाहिए क्योंकि शरीर के चलायमान रहने से ध्यान की सिद्धि नहीं होती। जो पुरुष व्यग्र हो, जिसने कोई महापाप किया हो, हिंसा आदिक कोई कार्य कर आया हो, ऐसे पुरुष बहुत जल्दी पकड़े क्यों जाते हैं कि वे अस्थिर मन और अस्थिर शरीर के होते हैं उनकी आँखें, उनकी निगाह, उनका सिर, उनके सब अंग स्थिर और शान्त नहीं रह पाते हैं, उस व्यग्रता को देखकर पहिचानने वाले लोग उन्हें पकड़ लेते हैं। तो जब चित्त में राग मोह अधिक रहा करता है तो शरीर भी स्थिर नहीं रह पाता। शरीर की स्थिरता से ध्यान की पात्रता का अनुमान होता है और ध्यान की सिद्धि होती है।

**ध्याता पुरुष की जितेन्द्रियता का वर्णन—** ध्याता पुरुष जितेन्द्रिय होता है। इन्द्रिय के विषयों को जीतने वाला होता है। इन्द्रिय के विषयों को जीतने में वस्तुतः वह पुरुष समर्थ होता है जिसने वस्तुस्वरूप का निर्णय करके ऐसा भेदविज्ञान किया है जिसके प्रताप से वह अपने आपको इन द्रव्येन्द्रियों से न्यारा और अन्दर में उठनेरूप विकल्परूप भावेन्द्रियों से न्यारा और इन्द्रियों के साधनभूत स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, शब्द वाले इन पौद्गलिक विषयों से न्यारा और ज्ञानमात्र समझता है वही पुरुष इन्द्रियों को वास्तविक जीतने वाला होता है। इतनी बात कोई चाहे करके न जानता हो, इतनी बात न बोल सकता हो लेकिन दृष्टि बन गई हो वह जितेन्द्रिय बन जाता है। तो ध्याता पुरुष को जितेन्द्रिय होना चाहिए, क्योंकि इन्द्रिय के जीते बिना वह इन्द्रियविषयों में प्रवृत्ति करेगा। उससे ध्यान की सिद्धि नहीं हो सकती है। जिन्हें विषय विष ही प्यारे लगते हैं उनको यह ध्यान

का अनुपम जीवन नहीं प्राप्त हो सकता है। जैसे मछली, मांस, मदिरा आदिक की दुर्गन्ध में बने रहने वाले ढीमर आदिक लोग कहीं फूल की महक के बीच पहुँच जायें तो उन्हें वहाँ चैन नहीं आती। उन्हें चैन तो उन मछलियों की दुर्गन्ध में ही आया करती है। ऐसे ही विषयों के व्यामोह में फँसे हुए संसारी जीवों को संयम, ज्ञान, वैराग्य, धर्म की बातों में रुचि नहीं होती है। तो जितेन्द्रिय होना चाहिए ध्याता पुरुष को। ये सब विशेषण कहे तो जा रहे हैं पर सब विशेषणों का मूल है— सम्यग्ज्ञान होना चाहिए। सम्यग्ज्ञान के बिना कोई विशेषता अपनी विशेषता नहीं रख सकती। तो ध्याता पुरुष को जितेन्द्रिय होना चाहिए।

**ध्याता की संवृत्तता—** 7 वीं बात कह रहे हैं कि वह संयमी भी हो, जो खानपान आदिक में विकल हो जाय, क्षुधा, तृषा आदिक से व्याकुल बन जाय उस ध्याता को सिद्धि कैसे हो सकती है। हित क्या है और हित का यत्न क्या है इसका परिचय हो जाने पर फिर जो-जो भी प्रवृत्तियाँ वहाँ बनती हैं वे सब प्रवृत्तियाँ हमारे हित में साधक होती हैं, और एक अपने आपके अंतस्तत्त्व का परिचय न हो तो समस्त संयम तपश्चरण आदिक उन प्रकाशों को उत्पन्न नहीं कर सकते हैं जिन प्रकाशों में यह जीव शान्त रह सकता है। इस मोक्षमार्ग के अभिलाषी जीव को क्या करना है, कितना काम करना है। अज्ञानी जनों को तो बहुत संख्या में काम दिखेंगे। ये व्रत करना, संयम करना, तपश्चरण करना बहुत काम करने पड़ते हैं किन्तु ज्ञानी पुरुष को केवल एक ही काम दिखता है। पचासों नहीं दिखते हैं। प्रकृति व्रत संयम में उसकी भी है, पर लक्ष्य की बात है। कौनसा काम एक करने को पडा है? अपने सहजस्वरूप का दर्शन। अपने स्वरूप का परिज्ञान। उसका ही निरन्तर उपयोग बना रहे बस यह काम उसे करने को पडा है। इस काम में योग्यता आती है तो कहीं कुपथ में यह मन न भ्रम जाय, कहीं यह कुध्यान का पात्र न बन जाय इसके लिए अनशन, ऊनोदर, प्रायश्चित्त आदिक जितने भी अन्तःतपश्चरण हैं, समिति, गुप्ति, सत्य भाषण, व्रतपालन समस्त प्रकार के जितने भी व्यावहारिक धर्म हैं, कर्तव्य हैं उन्हें यह ज्ञानी भी करता है किन्तु उन्हें करते हुए ऐसा ही मुझे करते रहना है यह ध्यान में उसके नहीं है। उसके ध्यान में केवल एक ही काम ज्ञानी भी करता है, किन्तु अंतस्तत्त्व से अपरिचित अज्ञानी पुरुषों को करने के लिए व्यवहारधर्म के पचासों काम पड़े हैं, उसकी श्रद्धा में यह है। जैसे कि साधारण गृहस्थों की श्रद्धा में घर के बीसों कामकाज बसे रहते हैं, अब यह करना है, अब दुकान जाना है, अब वहाँ जाना है, उनसे बात करना है, दसों काम जैसे बसे हुए हैं उसी ढंग से प्रोग्राम के अनुसार इसे भी पचासों काम बसे रहते हैं। हैं वे व्यवहारधर्म के ही कार्य। हैं वे व्रत, संयम, तपश्चरण आदिक ही, लेकिन अन्तः उनका करना ही बसा रहता है। तब उस ज्ञानी पुरुष को अन्तर में एक सहजस्वभाव का उपयोग करना ही धुन में बना रहता है। जो सम्यग्ज्ञानी पुरुष हैं वे भी तपश्चरण करते हैं, पर तपश्चरण का उनका प्रयोजन एक ही काम के लिए है। यह बात संयम से सम्भव है, अंतःसंयम और व्यवहारसंयम। ध्याता पुरुषों को इतना अभ्यास कर लेना चाहिए उपवास आदिक करके कि कोई क्षुधा तृषा आदिक वेदनाएँ आयें, कभी ऐसा अवसर

आये तो उन्हें सुगमतया पार कर सकते हैं और अपने ध्यान के लक्ष्य से भ्रष्ट नहीं हो सकते हैं। ध्याता पुरुष कैसा हुआ करता है, कौनसा ध्याता प्रशंसनीय है उसके प्रकरण में सब विशेषताएँ कही जा रही हैं।

**ध्याता की धारिता—** 8 वां विशेषण है कि ध्याता धीर हो। उपसर्ग आने पर ध्यान से यदि न गिरे तो ध्यान की सिद्धि होती है। कोई अनुकूल प्रतिकूल वातावरण हो तब भी अपना धैर्य न तजे, जरासी अनुकूल बात देखकर एकदम अपना सर्वस्व उपयोग समर्पण कर दे और कुछ भी प्रतिकूल बात देखकर उसकी ओर से मुख मोड़ ले अथवा द्वेष रखे तो वह धीर कैसे हो सकता है, और जब तब धीरता न हो तब तक ध्यान कैसे बन सकता है। धीर का अर्थ है धैर्य देने वाला भाव। जब धैर्य होता है तब बुद्धि कितना काम देती है। जब किसी बात की अधीरता होती है तो बुद्धि काम नहीं देती। कहो हाथ में रखी हुई चीज को बाहर ढूँढ़ने लग जायें। जब अधीरता होती है तो अपने आपकी भी सुध नहीं रहती। तो ध्याता पुरुष को धीर होना चाहिए। ऐसे 8 विशेषणों से एक प्रशंसनीय ध्याता का वर्णन किया गया है।

## श्लोक-287

उदीर्णकर्मन्धनसभवेन दुःखानलेनातिकदर्थ्यमानम्।  
दंदहयते विश्वमिदं समन्तात्प्रमादमूढं च्युतसिद्धिमार्गम्॥287॥

**प्रमादी-मूढ पुरुषों को प्राप्त दण्ड—** जिन पुरुषों ने मोक्षमार्ग को छोड़ दिया है और प्रमाद के कारण पर्याय में मूढ़ हुए हैं ऐसे प्राणी उदय में आये हुए कर्मरूप ईधनों से उत्पन्न जो क्लेशरूपी अग्नि है वे निरन्तर पीड़ित होते हुए जलते हुए चारों ओर से भस्म सा होते हुए बरबाद हो रहे हैं। चीज सब जगह केवल एक ही है। प्रत्येक पदार्थ केवल अपने आपमें हैं, किसी भी पदार्थ में किसी दूसरे पदार्थ का स्वरूप नहीं मिला, दो मिलकर कभी नहीं बन सकते। जो एक है वह आज तक कभी मिट नहीं सका। तो हम आप सब जो-जो भी एक सत् हैं, आत्मा है वह आत्मा सदा रहेगा, कभी मिटने वाला नहीं है। लेकिन ऐसा जीवन किस काम का जिस जीव में प्रकाश न आया हो। व्यर्थ की मान्यताओं का अँधेरा छाया हो, अपने आपकी दया करने में प्रमादी बन रहा हो। भले ही वह जगत में जग रहा है लेकिन यह जीवन किस काम का। ऐसा मोही प्राणी अब भी दुःखी है, और मरण करके जहाँ जन्म लेगा वहाँ भी दुःखी रहेगा। मोह में किसी का पार न हो सका। जब चित्त शान्त हो, ज्ञान के लिए अपना उपयोग चले तब यह बात विदित होती है कि हो क्या रहा है यह जैसे कहते हैं कि सूत न कपास कोली से लट्टमलट्ट। मेरा बाहर कहीं कुछ नहीं है, किसी का मैं कुछ नहीं हूँ, सब एक-एक स्वतंत्र हैं, सबका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव उनका उनमें ही है। उस सम्बंध की बात ही नहीं है लेकिन यह मोही प्राणी अत्यन्त भिन्न पदार्थों में भी यह मेरा है इस प्रकार की अपनायत कर रहा है। इतनी सी भूल है, और दण्ड इतना मिलता है कि निगोद, स्थावर, विकलत्रय, नारकी आदिक के नाना बड़े-

बड़े क्लेश भोगता है। अत्यन्त भिन्न परवस्तुओं को यह मेरा है ऐसा मान लेने का इतना बड़ा दण्ड है। व्यवहार में कोई किसी का कुछ बिगाड़ कर दे तो वह दण्ड का पात्र होता है। मन में कुछ बुरा सोचे तो लोग उसे दण्ड नहीं देते। हाँ पता पड़ जाय कि इसके मन में इतना बुरा विचार है तो उसका भी दण्ड होता है। पर यहाँ देखो कि केवल एक परिणाम में सोचा ही था कि यह मेरा है, यह मैं हूँ, इतना सोचने भर का इतना बड़ा दण्ड मिला कि नाना तरह के देहों में इसको फँसा रहना पडा और नाना विकल्पज्वालावों में जलना पडा।।

**संसार के समस्त दण्डों का कारण पर्यायव्यामोह—** इस समस्त दण्डों में मूल अपराध क्या है जिस अपराध पर कितने भी दण्ड हो सकते हैं वह मूल अपराध है, अत्यन्त भिन्न पदार्थों को यह मैं हूँ, यह मेरा है ऐसा माने हुए हैं, तो जो पर्यायमूढ़ जीव हैं, परसमय हैं, पर्याय ही सर्वस्व है, द्रव्य है ऐसी समझ रखने वाले लोग ही तो पर्यायमूढ़ कहलाते हैं। सांस्कृतिक शब्दों में यों कह लीजिए कि पर्याय को द्रव्य माने वही मूढ़। और अपने पर घटित करके यों कह लीजिए कि जो इन विनाशीक वस्तुओं को अपना सर्वस्व माने वह पर्यायमूढ़ है। तो ऐसे पर्यायमूढ़ पुरुष उदय में आये हुए कर्मों के निमित्त से जो दुःख उत्पन्न हुए उन दुःखों से ओर जलते रहते हैं मित्रजन कहते हैं अजी क्या फिकर करते हो। जब तक हम जिन्दा हैं तुम्हारा कोई बाल बांका नहीं कर सकता। अधिकारी जन खुश होकर नाना तरह के आश्वासन देते हैं, और-और लोग भी अपनी प्रीति दिखाते हैं लेकिन ये सब बाहर के काम तब तक ही बन रहे हैं जब तक कि कुछ पुण्य का उदय है। पाप का उदय आने पर कोई किसी का बँधा नहीं हैं, कितने ही वायदे किए हों प्रथम तो कोई सफल नहीं हो सकता, परपदार्थों के सम्बन्ध में किए हुए वायदों को पूर्ण करने में और फिर प्रतिकूल उदय होने पर सब मुख फेर लेते हैं। जैसे थोड़े समय यों ही समझ लीजिए— जो पुरुष धनी है, किसी अन्य लोगों के काम भी आता है उसके प्रति जनता का कितना आकर्षण रहता है, और दरिद्र हो जाने पर फिर जनता का क्या व्यवहार होता है सो निरख लीजिए। कोई पुरुष बलिष्ठ है, जवान है, शरीरबल से दूसरों की सेवा करता है उसके प्रति लोगों का कितना सुन्दर व्यवहार रहता है। जब अत्यन्त वृद्ध हो गया, चलते भी नहीं बनता तो भले ही कोई लोग सेवा कर लें, पर दिल की बात तो देखिये— उसके प्रति लोगों का आकर्षण नहीं रहता। यह संसार की दशा है। तो यहाँ किस समागम में विश्वास जमाना उचित है, समस्त समागम मायारूप हैं, इन सब मायाजालों में आत्मा को कहीं हित नहीं मिल सकता। तो ऐसे मूढ़ पुरुष अपने आपको कष्टों से जलाते रहते हैं।

**कष्टों का कारण अज्ञान—** कष्ट आते ही उसे हैं जिसका ज्ञान बिगड़ गया हो। जिसका ज्ञान शुद्ध है, सही लक्ष्य की ओर बना है उसको चिन्ता क्या? बाहरी चीजें आयी, अथवा गयी, वैभव रहा अथवा गया, कोई सुन्दर बोलने वाला रहा या अप्रिय बोलने वाला रहा, जो कुछ भी हैं वे बाह्यवस्तुएँ हैं। उनसे मुझमें कुछ नहीं आता, उनका प्रभाव मुझमें कुछ नहीं पड़ता, मैं ही अपनी कल्पनाएँ बनाऊँ तो मैं ही अपराधों से प्रभावित

होकर क्लेश पा लेता हूँ, दूसरा मुझमें कुछ प्रभाव नहीं डालता। कोई छोटा पुरुष किसी बड़े के सामने प्रभावित हो जाय और अपने आपको भयभीत कर ले तो किसी बड़े पुरुष ने उस पर नहीं प्रभाव डाला, उसमें डर नहीं उत्पन्न किया, किन्तु वह स्वयं ही ऐसी योग्यता वाला था, अपने आपमें विकल्पों को उत्पन्न कर सकने वाला था, कि वह अपनी ही योग्यता से अपने आपमें ही ऐसा प्रभावित हो गया कि भयभीत हो चला। कोई किसी दूसरों को कष्ट नहीं देता, खुद अर्थ लगाते हैं और कष्ट पाते हैं। जैसे कभी कोई बालक कुछ अपराध कर दें चीज तोड़फोड़ दें, या कुछ चीज चुरा लें तो उन बालकों को खड़ा करके कोई समझदार यह कहे कि देखो जिसने चुराया हो वह अपना नाम बता दे नहीं तो हम ऐसा मंत्र पढ़ेंगे कि अभी सामने आ जायगी कि इसने चुराया है। इतने पर भी कोई बालक न बताये तो अच्छा बैठ जाओ, देखो हाथ सब नीचे रखे रहना, हाथ ऊपर न उठाना, हम मंत्र पढ़ेंगे और जब हमारा मंत्र पूरा हो जायगा तब हम मंत्र पढ़कर ऊँचा सिर उठायेंगे उस लड़के की चोटी अपने आप खड़ी हो जायगी। झूठमूठ का उसने मंत्र पढ़ा तो जिसने चुराया है वह अपने हाथ से अपनी चोटी देखने लगता है। तो किसने प्रभावित किया उस बालक को? उसकी कल्पना ने, उसके ही अपराध ने उसको प्रभावित कर लिया। तो ये जगत के प्राणी अपने अज्ञानभाव में बसकर अपनी ही कल्पनाओं से प्रभावित होकर चारों ओर से क्लेश पाया करते हैं, वे ध्यान की क्या सिद्धि करेंगे। इसको उचित है कि पहिले वस्तु के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान करे तो यह अपने संकटों को दूर कर सकेगा।

## श्लोक-288

दह्यमाने जगत्यस्मिन् महता मोहवह्निना।

प्रमादमदमुत्सृज्य निष्क्रान्ता योगिनः परम्॥288॥

योगियों की मोहाग्नि से निष्क्रान्तता— पूर्व छन्द में यह बताया था कि ये संसार के प्राणी प्रमाद से पर्याय में मूढ़ होकर दुःखरूपी अग्नि से पीड़ित होकर चारों ओर से जल रहे हैं। अब इस छंद में यह कह रहे हैं कि ऐसे महान मोहरूपी अग्नि से जलते हुए इन प्राणियों में से केवल योगी ही प्रमाद को छोड़कर निकलते हैं अन्य कोई नहीं निकलता। इस सारे संसार में प्रायः सभी पुरुष मोहरूपी आग से जल रहे हैं। जैसे मनुष्यों में मोह की प्रवृत्ति देखी जा रही है ऐसे ही पशुओं में, पक्षियों में भी मोह की प्रवृत्ति होती है और असंज्ञीपञ्चेन्द्रिय तक अन्य विकलत्रयों में उनके आहार, निद्रा, भय, मैथुन की वेदना लगी रहती है। वे भी अपने पाये हुए शरीर में मदमस्त रहते हैं, ऐसा चारों ओर से यह संसार दुःखरूपी अग्नि से जल रहा है। इस जलते हुए जगत से केवल वे ही योगीश्वर निकल सकते हैं जो अपने स्वरूप की उपलब्धि में उत्साह रखते हैं और निर्मोह होकर आत्मध्यान में रत हुआ करते हैं। जैसे कहीं बाड़े में आग लग गयी हो जिसमें बहुत से पशु घिरे

हों, और उनमें से कोई पशु निकल आये तो उसका आप बड़ा भाग्य कहते हैं कि नहीं। ऐसे ही समझिये कि यह सारा संसार जिसमें चारों ओर ये समस्त प्राणी दुःखरूपी अग्नि से जल रहे हैं। सप्तम नरक के नीचे से लेकर जहाँ सिद्धभगवान विराज रहे हैं वहाँ तक चारों ओर सर्वत्र लोक में ये संसारी प्राणी मोह की आग से जल रहे हैं। इनमें से कोई बच निकले, शान्त निराकुल बन सके ऐसा कोई कर सकता है तो वह योगी पुरुष ही कर सकता है। जिसके उपयोग का लगाव अपने आत्मा के स्वभाव की ओर ही गया है, जिसने सम्यग्ज्ञान का प्रकाश पाया है, समस्त वस्तुओं को जो स्वतंत्र-स्वतंत्र निहार सकता है ऐसे योगीश्वर ही इस जलते हुए जगत से निकलने में समर्थ होते हैं।

### श्लोक-289

न प्रमादजयं कर्तुं धीजनैरपि पार्यते।  
महाव्यसनसंकीर्णं गृहवासेऽतिनिन्दिते॥289॥

**गृहवास की निन्दितता—** यह गृहवास यह घर का रहना अनेक कष्टों से भरा हुआ है। सो प्रायः जो घर में रहते हैं उन्हें अनुभव ही है। कोई एक जाति का कष्ट है क्या? परिवार में कोई कैसा कष्ट है कोई कैसा है कोई प्रतिकूल है, किसी पर कैसा ही गुस्सा आता है, कोई रोगी है, कोई दरिद्र है, अनेक प्रकार के संकट इस गृहस्थ में समाये हुए हैं। इस गृहवास के ही कारण लोगों से रिश्ता नाता का सम्बंध भी बनता है, और उस रिश्ता नाता में भी अनेक प्रतिकूलताएँ आती रहती हैं। यह मनुष्य गृहवासी होकर अनेक प्रकार के कष्टों को झेल रहा है। इसलिए इस गृहवास को अतिनिन्दित बताया है। आचार्यदेव कहते हैं कि वह गृहवास निन्द्य है। इसमें हित का अवसर है ही नहीं। और विपदा, विडम्बनाएँ, संक्लेश ये निरन्तर बने रहते हैं। क्या है बच्चे हैं तो वहाँ हैं अपनी अज्ञान और अशक्ति से क्लेश पाते हैं। उन्हें यह क्लेश सताता रहता है कि हम बड़े न हुए, इन लोगों की कैसी आज्ञा चलती। हम जो चाहते हैं उसे यह नहीं मानते हैं। बड़ों की सामर्थ्यता, बड़ों की प्रभुता को देखकर वे बालक ललचाते रहते हैं, हम न ऐसे अधिकारी बने। और जब जवान होते हैं, अधिकारी बनते हैं तो जो उन पर संकट आता है उसे सभी जानते हैं। ऐसा लगता है कि ये बालक लोग बड़ी मौज में हैं, इन्हें कोई चिन्ता नहीं, खाना खेलना यही इनका एक काम है। यहाँ देखो सैकड़ों चिन्ताओं में शल्यों में पड़े रहते हैं। जवान होने पर और-और प्रकार के अनेक कष्ट आते हैं। सबकी सुनना, सब परिस्थितियों में गुजारा करना अनेक व्यसन लगे हैं। जवानी निकली, वृद्धावस्था हुई तो जिसने बालपन में अथवा जवानी में ज्ञानार्जन नहीं किया, ज्ञानदृष्टि नहीं की, ज्ञानध्यान का अभ्यास नहीं किया उसकी बुढ़ापे में बहुत बुरी हालत होती है। एक तो शरीर की कमजोरी के कारण अनेक बाधाएँ होती ही हैं, चलते, उठते, खाते कुछ भी करते नहीं बनता, और फिर मन की उड़ान, दूसरों को बढ़िया लड्डू, पूड़ी, हलवा खाते देखते हैं

और खुद के दाँत नहीं हैं अथवा पचा नहीं सकते तो निरख-निरखकर मन ही मन कुढ़ते हैं। तो मन का क्लेश है, शरीर का क्लेश है और फिर बुढ़ापे में लोग उपेक्षा कर देते हैं। जानते हैं बालक लोग अथवा उनके घर की बहुवें कि यह तो वृद्ध है, किसी काम का तो आता ही नहीं है और वह वृद्ध अपनी कषायों के कारण जैसा चाहे बकता है तो वह आग में और घी डालने जैसा काम करता है। तो वहाँ भी बड़ी दुर्दशा है। इस गृहवास में सर्वत्र विडम्बनाएँ हैं।

गृहवास में ध्यानसिद्धि की संभवता न होने से गृहवास की त्याज्यता का भाव— बड़े-बड़े बुद्धिमान गृहस्थ भी इस प्रमाद को जीतने में समर्थ नहीं हो पाते। अर्थात् वे बाह्यपदार्थों के विकल्पों से छूटकर अपने आपके अंतस्तत्त्व के अनुभव के लिए उत्साहित बन सकें ऐसी बात नहीं बनती। इस कारण गृहस्थावस्था में ध्यान की सिद्धि नहीं होती। बड़े-बड़े बुद्धिमान पुरुष भी इस गृहस्थी के कारण होने वाली चिन्ताओं से छुटकारा पाने में असमर्थ हैं। जब तक चित्त प्रसन्न न हो, प्रसन्न के मायने निश्चिन्त न हो, तब तक उस चित्त में अन्तस्तत्त्व का ध्यान नहीं हो सकता। यह प्रसंग ध्याता कैसा होना चाहिए, उसके वर्णन में चल रहा है। गृहस्थ ध्याता नहीं हो पाता, वह थोड़ा-थोड़ा कर तो सकता है मगर ध्यान की सविधि साधना गृहस्थ के द्वारा नहीं हो पाती, इसे साधुजन करने में समर्थ हैं इस ध्यान के द्वारा इस जाज्वल्यमान संसार से निकलने में ये योगी ही समर्थ है। गृहस्थ का श्रावक भी नाम है, उपासक भी नाम है गृहस्थ का तो अर्थ है जो घर में रहता है। यह तो सामान्य शब्द है। जो घर में सही व्यवस्था बनाकर रहता है और जीवन यापन करता है उसे गृहस्थ कहते हैं यह गृहस्थ जब चर्चाओं के सुनने में अधिक उपयोग लगाता है और इसे धर्मचर्चा भी सुहाती है, अपनी शक्ति के माफिक विवेक करके योग्य क्रियाओं में भी लगता है तब इसका नाम हुआ श्रावक। उपासक— जो योगी धर्म की उपासना करे, मैं भी योगी बनूँ, मैं भी निर्ग्रन्थ होऊँ, मैं भी सर्व संकल्पविकल्पों से छूटकर केवल आत्मध्यान करूँ, इस प्रकार की जो भावना रखता है उसे कहते हैं उपासक। जो उपासक नहीं है वह वास्तविक मायने में गृहस्थ श्रावक कुछ नहीं है। यों तो अन्य जीव भी अपनी-अपनी आजीविका की पूर्ति कर लेते हैं। सबका एक प्रधान कर्तव्य है। यद्यपि गृहस्थ ध्यान का पात्र नहीं है, ध्यानसिद्धि में समर्थ नहीं हो पाता लेकिन यह उत्कल भावना रखनी ही चाहिए कि मैं कब इस जंजाल को छोड़कर केवल आत्मा के ध्यान में अपना समय बिताऊँ, उस ही परमयोग का आलम्बन लूँ, इस प्रकार इस परमयोग का, निर्विकल्प योग की उपासना का भाव प्रत्येक गृहस्थ के होना चाहिए।

## श्लोक-290

शक्यते न वशीकर्तुं गृहिभिश्चपलं मनः।

अतश्चित्तप्रशान्त्यर्थं सद्भिस्त्यक्ता गृहे स्थितिः॥290॥

विवेकी गृहस्थ के गृहत्याग की भावना से श्रेष्ठता— गृहवास में रहकर इतनी उलझनों में इस चंचल मन को वश कर सके और निज सहज ज्ञानस्वभाव की उपासना में अपना समय लगा सके यह बात नहीं बन सकती, इस कारण चित्त को शान्त करने के लिए सम्यग्दृष्टि पुरुषों ने गृहवास को त्याग दिया है। गृहस्थ रहकर भी गृहत्याग की भावना रहे तो उसका नाम सद्गृहस्थ है। चाहे वह इस भव में न त्याग सके लेकिन चित्त में तो यह बात न रहे कि यह घर त्यागने के ही योग्य है। जैसे एक अकबर बीरबल का चुटकुला आया है कि भरी सभा में अकबर ने बीरबल को नीचा दिखाने के लिए कहा कि बीरबल आज रात को हमें ऐसा स्वप्न आया है कि हम और तुम दोनों घूमने जा रहे थे, रास्ते में दो गड्डे मिले, एक में शक्कर भरी थी और एक में गोबर-मलमूत्र इत्यादि। तो हम तो गिर गए शक्कर के गड्डे में और तुम गिर गए गोबर विष्टा के गड्डे में। तो बीरबल ने कहा महाराज जरूर देखा होगा ऐसा स्वप्न। हमने भी बिल्कुल यही स्वप्न देखा कि हम तुम दोनों घूमने जा रहे थे। रास्ते में दो गड्डे मिले, सो शक्कर के गड्डे में तो तुम गिर गये गोबर विष्टा मूत्र आदिक के गड्डे में हम गिर गए, पर इससे आगे थोड़ा और देखा कि हम तो तुम्हें चाट रहे थे और तुम हमें चाट रहे थे। अब देखो बीरबल ने तो शक्कर चाटा और अकबर को मलमूत्र विष्टा आदि चटाया। यों ही समझिये कि घर में रहकर भी अगर गृहत्याग में हित है ऐसी भावना है तो वह गृहस्थ सद्गृहस्थ है। नहीं तो समझिये कि उसका बड़ा बुरा हाल है। घर में ही रहता है और घर में ही रहने में हित है, सुख है, मौज है, ऐसी भावनासहित बना रहे तो उसकी बड़ी खोटी परिस्थिति है। लेकिन गृहवास में भी धर्म की एकदेश साधना है। गृहस्थी में रहकर मनुष्य कितने ही विकारों से दूर रह सकता है और उनमें मुख्यता से समझ लीजिए कामविकार की बहुलता से दूर रह सकता है अर्थात् केवल अपनी स्त्रीमात्र में सन्तोष वृत्ति से रहता है तो अन्य स्त्रीजनों का विकल्प तो हट गया। तो कितने ही कामविकार उसने दूर किया। दूसरे अपनी उदरपूर्ति के लिए वह यत्र तत्र दैन्य भाव न करेगा किन्तु अपने एक अर्थ पुरुषार्थ में योग्य न्याय की कमाई करके शौर्यसहित रहेगा। उसमें भी दीनता का भाव नहीं आता। यद्यपि जो गृहत्याग देते हैं उनमें भी दीनता का भाव नहीं है, उनमें भी ज्ञानबल है, इस कारण ज्ञानबल इतना न बढ़े, वैराग्यबल इतना न बढ़े और गृह भी त्याग दे तो उसकी परिस्थिति दीनता की ओर चलेगी। गृहस्थावस्था में रहकर कितनी ही साधना कर सकते हैं। देवपूजा, गुरुवन्दन, ज्ञानार्जन, यथाशक्ति संयम, दान, यथाशक्ति इच्छा, निरोध इन 6 आवश्यकों को करके यह गृहस्थ भी अपना जन्म सफल कर सकता है। लेकिन जो गृहस्थ इस ही को अपना आखिरी कर्तव्य मान ले तो उसका आशय में विषयसमागम ही हितरूप है इस कारण वह सद्गृहस्थ नहीं कहला सकता। गृहवास में भी रहकर गृहत्याग की भावना रखनी चाहिए। गृहत्याग वह कर सके अथवा न कर सके लेकिन अन्तर में गृहत्याग की उत्कट भावना रहनी चाहिए।

भावना का स्वातन्त्र्य— भावना का सम्बंध आत्मा से है परिस्थिति से नहीं है। कोई कहे वाह— हम गृहस्थ की परिस्थिति में रहते हैं, और भावना करें साधु धर्म की तो यह तो मायाचार हो जायगा। रहते तो हम कहीं हैं

और सोचते हैं कुछ। अरे मायाचार वहाँ होता है जहाँ दिखाते तो हैं और सोचते हैं बुरा। जैसे कोई कहने लगे कि मायाचार का तो यह लक्षण कहा है कि मन में कुछ और है, वचन में कुछ और है और करे कुछ और। जैसे अनेक धूर्तजन मन में कुछ बात रखते हैं— विरोध, ईर्ष्या, विनाश की और वचन से बड़ी चापलूसी के मीठे वचन बोलते हैं और शरीर से अहित का उद्यम करते हैं तो यह तो मायाचार है। वहाँ सम्यग्दृष्टि भी तब तो मायाचारी बन गया। मन में है मोक्ष की बात, गृहत्याग की बात और रह रहा है गृहस्थी में, मन में तो सबसे विरक्त रहने की बात है और परिजनों से मीठा भी बोल रहा है, राग भरी बातें बोलता है, पर यह मायाचार नहीं है। जहाँ वचन और काय की क्रियाओं की बात से भी ऊँची बात मन में विराजी हो उसे मायाचार नहीं कहते हैं। काय से, वचन से तो भली बातें करता हो और मन में खोटी चिन्तना रखता हो उसका नाम मायाचार है। यह अपनी भावना है। संसारसंकटों से मुक्ति पाने की भावना रखने वाले पुरुष अपनी शक्तिभर शरीर और वचन से भी यत्न तो रखते हैं पर नहीं सफल हो पाते। कुछ बाधाएँ हैं उसे अपनी ओर से भी। तो इसका नाम मायाचार नहीं है। सद्गृहस्थ वह है जो गृहत्याग में हित है ऐसा बनाए। तो गृहस्थ गृहवास में रहकर गृहस्थी के द्वारा यह चंचल मन वश नहीं किया जा सकता, इस कारण चित्त की शान्ति के लिए सज्जन पुरुषों ने गृहवास का भी परित्याग किया है। बड़े-बड़े तीर्थंकर, चक्रवर्ती बड़े-बड़े अन्य महाराजाधिराज ने इन समस्त वैभवों को तृणवत् असार जानकर क्षणभर में त्याग दिया तब उनके भावना जगी। तो यह बड़ी निर्मोहता की बात होगी। जैसे गोबर के गड्ढे में गिरकर भी बीरबल शक्कर का स्वाद ले रहा था, इसी तरह गृहस्थावस्था में रहकर निरारम्भ, निर्विकल्प इस अध्यात्मयोग की भावना रखता है वह इस योग का कुछ न कुछ स्वाद प्राप्त कर लिया करता है।

## श्लोक-291

प्रतिक्षणं द्वन्द्वशतार्तचेतसां नृणां दुराशाग्रहपीडितात्मनाम्।  
नितम्बिनीलोचनचौरसंकटे गृहाश्रमे स्वात्महितं न सिद्धयति॥291॥

गृहाश्रम के आश्रमत्व का कारण— सैकड़ों प्रकार के लड़ाई झगड़ों से दुःखी चित्त गृहस्थावस्था में रहकर अपने हित की सिद्धि नहीं कर सकता। जहाँ धन आदिक के लाभ हानि की निरन्तर चिन्ता शल्य बनी रहती है, जहाँ खोटी-खोटी आशाओं की पीड़ा निरन्तर बनी रहती है, जहाँ स्त्री के राग से चित्त वासित बना रहा करता है ऐसे गृहस्थाश्रम में सिद्धि नहीं होती है। गृहस्थ का आश्रम गृहत्याग की भावना के कारण कहा गया है। घर में रहे और खूब मौज से जैसे चाहे न्याय अन्याय का विवेक न कर धन को जोड़कर खूब भोगों में आनन्द माने ऐसी बातों से इसको गृहस्थाश्रम नहीं कहा गया है। हाँ घरवासी जरूर है। पर गृहस्थाश्रम की शोभा गृहत्याग की भावना से होती है। गृहस्थ भी यदि चाहें तो विशेषतया आजकल के जमाने में मोक्षमार्ग के

लिए अपना अच्छा कदम रख सकते हैं। प्रथम तो गृहस्थ का यह निर्णय होना चाहिए कि मेरे आत्मा का इन वैभव समागमों से कुछ प्रयोजन नहीं है। यदि संसार के इन मलीमस दुःखी मनुष्यों ने इस झूठी पर्याय का झूठा नाम गा दिया अथवा लोगों में कुछ मेरी कीर्ति बने तो इससे मुझे कुछ प्रयोजन नहीं है। किसलिए धन का संग्रह करना। गृहस्थ को यह मन में होना चाहिए कि धन को जोड़ते रहने का मेरे लिए कोई प्रयोजन नहीं। कौनसी सिद्धि है। पत्थरों को जोड़कर रख जाय, मर जाय इसमें मेरे आत्मा को कौनसी सिद्धि है। खूब शान्तचित्त होकर जरा विचारिये तो सही, क्यों अपने इस अमूल्य दुर्लभ मनुष्य पर्याय के अवसर को व्यर्थ के संकल्पविकल्पों में खोया जा रहा है। कौन किसका पुत्र है, कौन किसकी स्त्री है, और फिर वे पुत्रादिक आत्मा किसलिए हमारा क्या कहा कर सकेंगे। बात तो आँखों सामने देखते हैं। मोहवश पिता संरक्षक अपने पुत्रों को बहुत से बहुत समर्थ बनाने में धनी बनाने में उनके लिए धनसंचय करने में सारे जीवन भर श्रम करते हैं। धर्मसाधना में अपने जीवन के अमूल्य क्षण न बिताकर कुटुम्बियों की सेवा में अपना सारा समय बिता डालते हैं। देख लो सर्वत्र दृष्टि लगाकर, लोग धन वैभव के पीछे परेशान हैं। अरे धन वैभव तो उदयानुसार मिलता है। अपने में वह कला जगनी चाहिए कि जो हमारी आज की स्थिति है, जो कुछ आज पास में है, उसके भीतर हम धर्म के लिए दान के लिए निकालकर शेष में अपना गुजारा कर सकते हैं। कम आय है तो हमें किसे दिखाना है कि मैं बड़े साज शृंगार वाला हूँ। कोई आपका ईश्वर है क्या, जिसके हाथ में आपका भविष्य हो, आपकी जैसे चोटी हिलाये तैसा नाचना पड़े, ऐसा कोई यहाँ है क्या? इस दुनिया के भीतर कौनसा जीव क्या सुधार कर देगा, कौनसी शान्ति दे देगा। शान्ति तो खुद की ही ज्ञान की कला से मिलेगा, धन से न मिलेगी, लोगों से न मिलेगी तब इतना तो निर्णय होना ही चाहिए कि धनसंचय करना यह लक्ष्य बनाना मेरे लिए बेकार है। फिर अपने घर में रहें, जो करते हैं करें, इसमें भी अपने हित के लिए बड़ी प्रेरणा मिलेगी। आत्मध्यान में सफल होने का अवसर भी प्राप्त होगा, आत्मध्यान ही मेरा शरण है, उससे ही मेरा भला है। जगत में किसी अन्य से मेरा हित नहीं है ऐसा निर्णय रखकर गृहस्थाश्रम में रहकर धर्मपालन करना चाहिए।

## श्लोक-292

निरन्तनार्तानलदाहदुर्गमे कुवासनाध्वान्तविलुप्तलोचने।  
अनेकचिन्ताज्वरजिह्यितात्मनां नृणां गृहे नात्महितं पसिद्धयति॥292॥

**ज्ञानी का गृहवासदोषचिन्तन—** गृहस्थावस्था में उत्तम ध्यान कैसे सम्भव हो सकता जहाँ पर निरन्तर पीड़ा रूपी आर्तध्यान का दाह बना रहता है उस गृहवास में उत्तम ध्यान कैसे बने। जबकि साधु संत पुरुष अपने मन, वचन, काय की क्रियाओं को भी अनुरक्त न करके अर्थात् उन सभी क्रियाओं में रहकर भी उनसे

विरक्त अपने आपके स्वभाव का आदर करते हैं। तो भला गृहस्थ धर्म में गृहवास में गृहस्थाश्रम में रहकर यदि कोई गृहस्थी का आनन्द माने और गृहस्थ के धर्म के आचरण में सन्तुष्ट हो जाय तो उसका यह विवेक नहीं कहा जा सकता। सद्गृहस्थ तो वह है कि गृहवास में रहकर गृहवास के दोषों का चिन्तन करे कि यह मेरे हित की चीज नहीं है। मैं कब गृहवास से अलग होकर एक आत्मा में निवास करूँ और आत्मध्यान का पात्र बनूँ। ऐसी भावना जिसके हुई है वह सद्गृहस्थ है। जैसे अक्सर किन्हीं वृद्ध पुरुषों से कोई पूछे कि भाई सब राजी खुशी तो हैं? तो वह वृद्ध पुरुष क्या कहने लगता कि बड़ी मौज है, लड़के बड़े भले हैं, बहुएँ बड़ी सुपात्र हैं, बच्चे भी बड़े आज्ञाकारी हैं, इस प्रकार समागमों में जब मन रम रहा है तो ऐसे पुरुषों के ध्यान की कैसे सिद्धि हो सकती है। अच्छे से अच्छे समागम से भी क्या हित है? समागम के बीच पड़े हैं, पर के आकर्षण के वातावरण में हैं, काहे की कुशलता है, इस प्रकार की दृष्टि होनी चाहिए। तो जो गृहवास निरन्तर आर्तध्यान की अग्नि की दाह से दुर्गम है, बसने के अयोग्य है उस गृहवास में ध्यान की सिद्धि नहीं है।

**गृहवास में साधारण ध्यान की संभवता—** गृहवास में बिल्कुल ध्यान न हो सकता हो यह बात तो नहीं है। किन्हीं-किन्हीं रूपों में ध्यान प्रशस्त चलता है लेकिन उत्तम ध्यान बन जाय यह गृहवास में सम्भव नहीं है जितने भी अधिक से अधिक शुभ कार्य बन सकते हैं बना लेंगे, पर मोक्ष में जिन्हें लाभ की मन में उत्सुकता हुई ऐसे पुरुषों को तो गृहवास तजकर ही जहाँ स्वतंत्रता और अपने आपके भीतर सीमा की स्वच्छन्दता आ जाय ऐसा यत्न करना चाहिये। ऐसा जो आचरण कर सके उसके ध्यान की सिद्धि होती है। ज्ञानी गृहस्थ बालक को खिलाता हुआ भी क्या खिला रहा है? वह तो उन झंझटों से विरक्त होने का अलग होने की बात सोच रहा है। संसार में जिसको जितने अधिक सुहावने समागम मिले हैं उसको उतनी ही अधिक विपदा छाया हुई है, निमित्त दृष्टि से कहा जा रहा है। अधिक सुहावना कोई होगा उसकी ओर आकर्षण है तब आत्मा की बेसुधी अधिक बढ़ी, अपने आपसे च्युति अधिक हुई तो कोई तत्त्वसिद्धि नहीं है। मनमोहक समागम मिलना भी दुःख के लिए है। अतएव ज्ञानी गृहस्थ किसी भी समागम में चित्त नहीं रमाता। क्या करे, इस घर को, क्या करे इस परिवार को, क्या करे इस यश को, इससे कौनसी मेरी सिद्धि हो जायगी। यह मैं कुछ दिन के लिए इस नरभव में हूँ, इसे छोड़कर जाना होगा। इस जीवन में भी किन्हीं भी दूसरे से मेरे को कोई सहयोग नहीं मिलता। हम ही अपने ज्ञान को बिगाड़ लें तो दुःखी होंगे, हम ही अपने ज्ञान को सम्हाल लेंगे तो सब क्लेश मिट जायेंगे। मेरी ही कला पर मेरा सुख दुःख निर्भर है, दूसरे का किया हुआ मेरे में कुछ नहीं है। ज्ञानी गृहस्थ का जहाँ यह निर्णय है वहाँ बाहरी पदार्थों में कैसे रम सकेगा। जो रमेगा उसके उत्तम ध्यान नहीं बन सकता। जैसे गृहवास में कामक्रोधादिक कुवासनाओं का अंधकार छाया है जिस अंधकार के कारण ज्ञाननेत्र की दृष्टि विलुप्त हो गई है ऐसे गृह में उत्तम ध्यान कैसे सम्भव है।

गृह नाम भावगृह का है। जिसका भाव घर में रहने का नहीं है वह द्रव्यघर से कब तक चिपका रह सकता है, इसलिए जो घर में रुचिपूर्वक निवास करता है उसके भाव में घर तो बसा ही है। जैसे कुछ लोग

जब कहने लगते हैं कि अजी हमें मोह कुछ नहीं है। हम तो जरा बच्चों की दया करते हैं, ये कहाँ जायेंगे, कैसे रहेंगे, क्या होगा इनका। मुझे मोह कुछ नहीं है। भला यह तो बतलावो कि ऐसे-ऐसे सम्भवतः लाखों और करोड़ों बच्चे होंगे उन पर दया क्यों नहीं उत्पन्न होती। तब कुछ राग का लगार रहा ना। जब पद्मुम्न कुमार विरक्त हुए और सभा से उठकर आये, स्त्री के पास मिलने गए, तो स्त्री ने कहा कि हम विरक्त हुए हैं, घर से जाते हैं, तो स्त्री ने यही तो उत्तर दिया था कि अभी आप पूर्ण विरक्त नहीं हुए, अब चाहे तो जावो, यह बात अलग है। यदि पूर्ण विरक्त हुए होते तो हमारा विकल्प क्यों होता कि इससे मिलकर जायें। तो लगाव की बात किन-किन तरीकों से फिर जाती है, सो यह भी तो परखते जाइये।

**गृहवास में ध्यान की सिद्धि की अशक्यता का वर्णन—** काम, क्रोध की कुवासनाएँ यहाँ छापी रहें ऐसे गृहवास में आत्महित की कैसे सिद्धि है। जहाँ अनेक चिन्ताओं का ज्वर बना रहता है, जहाँ विकारों का ढेर बना रहता है ऐसे मनुष्यों के सहवास में रहते हुए ध्यान की कैसे सिद्धि हो सकती है। जो विवेकशील पुरुष हैं वे प्रत्येक कथन से लाभ उठाते हैं। गुणों का वर्णन चले चाहे दोषों का वर्णन चले, दोनों से विवेकी पुरुष लाभ उठाता है। प्रशंसा की, यश की भी बात ज्ञानी पुरुष को लाभदायक होती है और अपमान की निन्दा की, दोष निरूपण की बात भी ज्ञानी को लाभदायक होती है। कैसा ही समागम मिले उसमें भी ज्ञानी पुरुष सदुपयोग से लाभ उठाता है। जिसमें लाभ उठाने की योग्यता है वह सभी परिस्थितियों से लाभ उठाता है, और जो लाभ वाली बात है ऐसी परिस्थितियाँ भी अज्ञानी के हों तो वह उसका लाभ नहीं उठा सकता। गृहस्थाश्रम में अनेक गुण भी हैं अपेक्षाकृत। और, गृहवासी पुरुषों में भी गुण होते हैं, उन गुणों को सुनकर अज्ञानी तो फूल जायेगा, मेरी तो बड़ी तारीफ हो रही है और ज्ञानी शर्म से झुक जायेगा। इतनी बड़ी तारीफ के लायक तो हम हैं नहीं जितने कि गुण बखान किए जा रहे हैं। हमको इस ओर ही बढ़ना चाहिए, ज्ञानी यों चिन्तन करेगा। दोषों का वर्णन हो तो अज्ञानी ईर्ष्या विरोध करके आग बबूला बन जायेगा, उसका विघात करने की मन में सोचेगा। ज्ञानी क्या चिन्तन करेगा कि यह पुरुष दोषनिरूपण करके हमको सावधान ही तो कर रहा है हमें ऐसे दोष न करना चाहिए। कोई कुछ लोगों के सामने हमारी प्रशंसा गा दे तो उससे हमारा क्या लाभ है। ये सब मायारूप हैं, ये सब भी तो अपने आपके ईश्वर नहीं बन पा रहे हैं, अपने आपको समर्थ नहीं पा रहे हैं, ये सब भी दीन होकर संसार के जन्ममरण सुख दुःख के संकट भोग रहे हैं। सब स्वप्नवत् हैं, लेकिन दोष कहकर इसने हमें सावधान किया। ज्ञानी पुरुष किन्हीं भी परिस्थितियों में जैसे आत्महित हो वैसी बात निकाल लेता है। यहाँ गृहस्थाश्रम की निन्दा की जा रही है। इस गृहवास में हित की कैसे सिद्धि है। तो विचारना चाहिए कि बात तथ्य की है, हम छोड़ सकें अथवा न छोड़ सकें पर गृहवास छोड़ने में ही हित है ऐसा निर्णय रखें तो ये दोष आत्महित में साधक हो सकते हैं। यह ध्यान का प्रकरण है। ध्याता कैसा होना चाहिए यह प्रसंग चल रहा है। तो ध्याता जैसा प्रशंसनीय होता है उसका तो वर्णन एक छंद में किया है। अब ध्यान कौन नहीं बन सकता, किस ध्यान की सिद्धि नहीं हो सकती ऐसे जीवों का पुरुषों का वर्णन किया जा रहा है कि

यह गृहवास ध्यान के अयोग्य है। गृहस्थ को गृहवास से पृथक् होने की भावना रखना चाहिए और साधु पुरुष गृह से विरक्त हो गए थे, गृह को त्याग चुके थे उन साधुओं को गृहत्याग के दृढता की भावना होना चाहिए। हमने जो किया सो ठीक किया, अब गृह की कल्पना मन में न आनी चाहिए। इस तरह इस निरूपण से गृहस्थ भी शिक्षा ग्रहण करते हैं और साधु भी शिक्षा ग्रहण करते हैं।

### श्लोक-293

विपन्महापद्.कनिमग्नबुद्धयः, प्ररुढरागज्वरयन्त्रपीडिताः।

परिग्रहव्यालविषाग्निमूर्च्छिता विवेकवीथ्यां गृहिणः स्वलन्त्यमी॥293॥

**परिग्रहमूर्च्छितों का विवेकवीथी से स्वलन—** ऐसा गृहस्थ जिसका अभी वर्णन किया जायेगा वह विवेकरूपी कीली में चलता हुआ स्वलित हो जाता है। जैसे अशक्त वृद्ध पुरुष के पैर जगह पर ठिकाने से टिक नहीं पाते हैं और जहाँ रुकना चाहिए उस स्थान से स्वलित हो जाते हैं अथवा शरीर के बल से हीन पुरुष कमजोर पुरुष जैसे अपने जाने योग्य मार्ग से स्वलित हो जाते हैं ऐसे ही इस गृहस्थ की बात ले लीजिए। जो गृहस्थ सम्बन्धी विपत्तियों के महान् कीचड़ में फँसे हैं जिसकी बुद्धि गृहस्थी की चिन्ता और शल्य में ही फँसी रहती है वह पुरुष विवेक की पाठी में चल नहीं सकता है। गृहस्थावस्था में यदि कोई रमण करे, विश्राम से रहे, मौज से रहे तो वह भी विपदा और चिन्ता में रहे वह भी विपदा या तो हर्ष मानेगा उस सुख को पाकर या खेद मानेगा। हर्ष माने वह भी विपदा और खेद माने तो वह भी विपदा। पर जो इस समागम के ज्ञाताद्रष्टा रहने का यत्न रखते हैं उन्हें न हर्ष हो न खेद हो। ऐसी ज्ञान की ज्योति प्रकट होती है तो वह पुरुष गुप्त ही गुप्त कल्याण कर लेता है। जिसकी बुद्धि गृहजाल की विपत्तिरूप अंधकार में निमग्न है वह पुरुष भ्रष्ट हो जाता है। जो बड़े हुए रागरूपी ज्वरयंत्र से पीड़ित हैं अर्थात् राग से रंग गये हैं अहर्निश जिन पर राग रहे, जो राग के विषय हैं ऐसे मित्रजन या अन्य-अन्य प्रकार की परिस्थितियाँ ये ही चित्त में समायी रहती हैं ऐसे पुरुष विवेक से स्वलित हो जाते हैं। जो परिग्रहरूपी सर्प की विष ज्वाला से मूर्च्छित हुए हैं अर्थात् परिग्रह सर्प ने जिसे डस रखा है और इसके ही कारण जो हजारों बार कुछ से कुछ वचन निकालें, कुछ चेष्टा करें, अनेक विकल्प करें यों जो परिग्रहरूपी सर्प विष से मूर्च्छित हुए हैं वे गृहस्थजन विवेक की गली में चलते हुए स्वलित हो जाते हैं।

**श्रावक की हितोत्सुकता—** श्रावक शब्द बना है सुनने अर्थ वाली धातु से। जो धर्म की बात सुने सुनाये सो श्रावक। श्रावक में सबसे बड़ा गुण यह है। और, श्रोतों में सबसे बड़ा गुण यह होता है कि मेरी क्या कुशलता है, मेरा किसमें हित है ऐसी भावना रखकर सुनता है। तो धर्मचर्चा इस भावना को रखकर जो श्रवण में आता

है उसका उस रूप में फल होता है। हमें पढ़ते समय, सुनते समय, चर्चा के समय सदैव सुहित का ध्यान रखना चाहिए। मुझे वह ज्ञानदृष्टि कैसे प्राप्त हो, जो ज्ञान ज्ञान के स्वरूप को जानने में लगा रहे ऐसा जानने की स्थिति मुझे कैसे प्राप्त हो यह तो कुशलता है आत्मा की। इस प्रकार के आत्महित का जिसे ध्यान होता है वही विवेकी है। यही विवेक है, यही शान्ति का मार्ग है, यही एक मात्र काज है। किसी भी कार्य के करने का कोई ढंग तो होता है ना, तो मुक्तिरूपी लक्ष्मी के पाने का एक ही ढंग है— यह ज्ञानोपयोग। इस ज्ञानस्वरूप आत्मा के अनुभव में लग। ज्ञानस्वरूप आत्मा के अनुभव में लगने का प्रथम उपाय यह है कि यह ज्ञान ज्ञान के ही स्वरूप का चिन्तन करने लगे। केवल जानन की क्या स्थिति होती है। उस जानन के साथ जो रागद्वेष विकल्प उठते हैं उनको अलग करके अपनी बुद्धि में राग द्वेषों को भी अलग करके केवल जानन जानन की स्थिति का उपयोग बनाया तो यों ज्ञान के ज्ञान से इसे ज्ञानानुभव हुआ और ज्ञानानुभूति से ही आत्मानुभूति है। हम अपने आत्मा का निर्विकल्प अनुभव प्राप्त कर सकें इसके लिए करना क्या होगा? हमें आत्मा को जानना होगा।

**स्वानुभूति के लिए जाननविधि—** हम इस आत्मा को किस रूप से जानें कि हमें निर्विकल्प आत्मानुभूति की स्थिति प्राप्त हो, इस विषय को अब विचारें आत्मा, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप है। द्रव्य से यह गुणपर्याय का पिण्ड है, क्षेत्र से यह असंख्यात प्रदेशात्मक है, इतना लम्बा चौड़ा फैला हुआ इसका आकार है। कालपरिणतियोंरूप है, और भाव से देखने की पद्धति दो प्रकार से है, यह भेदपद्धति और यह अभेदपद्धति। भेदपद्धति से यह मैं आत्मा दर्शन, ज्ञान, चारित्र, आनन्द आदिक गुणरूप हूँ , और अभेदपद्धति से यह मैं आत्मा चैतन्यस्वभावमात्र हूँ, अवक्तव्य हूँ, अभेद वक्तव्य नहीं हो पाता, किन्तु समय में आये, अनुभव में आये उसे यों संकेत करके तो समझ सकेंगे कि यह है आत्मा। पर मेरे सम्बंध में कुछ भी वचन बोलेगा तो वही बड़ा भेद प्रारम्भ हो जायगा। तो अभेदपद्धति से यह मैं आत्मा चित्स्वभावमात्र हूँ। अब 5 प्रकार का ज्ञान हुआ। द्रव्यदृष्टि से मैं कैसा हूँ, क्षेत्रदृष्टि से, कालदृष्टि से, भेदरूप भावदृष्टि से, अभेदरूप भावदृष्टि से अब यह विचार करें कि हम आत्मा को इन 5 पद्धतियों में से किस पद्धति से जानें कि हमें शाश्वत आत्मानुभूति जगे। तो साक्षात् आत्मानुभूति जगे उससे पहिले अभेद भावपद्धति से जानने की बात कही है। लेकिन इस प्रकार से अभेदभावपद्धति से यह आत्मा अपने को जान सके एतदर्थ सब पद्धतियों से आत्मा का ज्ञान करना होगा। द्रव्य की प्रधानता से किया ज्ञान, लो मैं अनन्त गुण पर्यायों का पिण्ड हूँ। अब गुण पर्यायों पर झपटे रहें, वे हैं नाना, नाना तत्त्वों के जानने में डोलते रहें, फिर पाया क्या? फल की बात कर रहे हैं। यद्यपि इन सब दृष्टियों से आत्मा का ज्ञान होता है, परिचय होता है अगर साक्षात् आत्मानुभव बन सके उससे पहिले कौनसी दृष्टि जगती है यह बात विचारी जा रही है, क्षेत्र दृष्टि से देखो यह आत्मा इतना लम्बा असंख्यातप्रदेशी सारे देह में फैला हुआ है। जानते रहो, इस प्रकार लम्बाई चौड़ाई का ज्ञान करने पर आत्मानुभूति नहीं होती है। कालदृष्टि से खूब परख लीजिए, ज्ञान तो हो जायगा आत्मा क्रोध परिणति में है, मान परिणति में है, मंदकषाय परिणति

में है, सब परिस्थितियों पर दृष्टि करते-करते रहने के उपाय से साक्षात् आत्मानुभूति नहीं हो पाती। शाश्वत भी है गुण लेकिन विविधगुण के रूप में अपने आपको जब समझें मैं ज्ञानरूप हूँ, दर्शनरूप हूँ, तो अब कहानी बढ़ाते जाइये— यद्यपि शाश्वत गुण है लेकिन जहाँ भेद है, नानापन है ऐसा जिस ज्ञान का विषय बन रहा हो वह ज्ञान किसी एक जगह स्थिर रहेगा। जब हम अनुभवपद्धति से एक चित्स्वभाव पर दृष्टि करते हैं केवल जाननमात्र प्रतिभासस्वरूप निज आत्मा की सुध लेते हैं, उस समय इसके ज्ञानानुभूति बनती है और ज्ञानानुभूति के रूप में यह आत्मानुभूति बनती है। यहाँ निर्विकल्प अनुभव हो सका। क्योंकि जो ज्ञान में आया है वही ज्ञेय बन रहा है। जहाँ ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय इन तीनों की एकता होती है वहाँ निर्विकल्पता जगती है। उत्तम चिन्तना में अधिक देर तब गृहवास में रहे यह सम्भव नहीं है। उत्तम ध्याता पुरुष निःसंग हो, शान्तचित्त हो, मुमुक्षु हो ये सब बातें कहीं गई थी। अब यह बताया जा रहा है कि कौनसा ध्याता अपने ध्यान की सिद्धि में सफल नहीं हो पाता, इस प्रकरण में यह एक उत्सुकता जग जानी चाहिए कि हम रहते हैं घर में, समागम में लेकिन ये हेय हैं, रमने की चीज नहीं हैं, ये लौकिक सुख मेरे लिए बेकार हैं, इस तरह इस गृहवास से विरक्त होकर जो शाश्वत आत्मस्वभाव की ओर झुकते हैं वे पुरुष प्रशंसनीय ध्याता होते हैं।

### श्लोक-294

हिताहितविमूढात्मा स्वं शश्वद्वेष्टयेद् गृही।

अनेकारम्भजैः पापः कोषकारः कृमिर्यथा॥294॥

हिताहितविमूढ़ों की स्वविनाशिनी वृत्ति का समर्थन— जैसे रेशम का कीड़ा अपने ही मुख से ताड़ को निकालता है और अपने को ही उसमें बेड़ लेता है इसी प्रकार हित अहित के विचार से शून्य यह गृहस्थ भी नाना प्रकार के पापों के आरम्भ से पापोपार्जन करके अपने को पापों के जाल में फँसा लेता है। गृहस्थजन अपने को फँसा हुआ पाते तो हैं किन्तु वे अपने को नाना कार्यों में और जो करने को पड़े हैं उनकी चिन्ताओं में फँसा हुआ समझते हैं, किन्तु एक आत्मा के सहज शुद्ध चैतन्यस्वभाव के परिचय के बिना जो परतत्त्वों से अहंबुद्धि ममता करके पाप परिणाम किए जा रहे हैं, सो गृहस्थाश्रम में गृहस्थ अपने ही विकल्प बनाता है, अनेक आरम्भ करता है, अनेक परिग्रहों में रमता है और अपने आपको फँसा लेता है, इस कारण ध्यान की पात्रता, मोक्षमार्ग की पात्रता विशेषरूप से जिससे कि साक्षात् मुक्ति हो सके गृहस्थाश्रम में नहीं होती है। मनुष्यों को उत्तम लक्ष्य जरूर रखना चाहिए। मैं आत्मा हूँ, मुझे क्या करना है, मेरा किसमें हित है ऐसा अपने आपमें निर्णय जरूर रखना चाहिए। जो वर्तमान समागम हैं उनमें ही मौज मानकर रह जाने से भविष्य में क्या होगा? यह संसार का जन्म मरण। मान लो एक इस भव में बड़े आराम और मौज से रहे, लेकिन इससे क्या पूरा पड़ेगा। जन्म मरण तो लेना ही पड़ेगा और उन जन्म मरणों की परम्परा में कैसे-कैसे देह

धारण करने होंगे। प्रथम तो यही देख लीजिए कि अनेक पशु कैसे जोते जाते हैं, पीटे जाते हैं। जरा अपन को कहीं ऐसी परतंत्रता बन जाय तो कितना क्लेश होगा। जो साँखलों से बाँधे जाते है, नाक में नकेल लगायी जाती है कितना बोझ लादा जाता है और ऊपर से पीटते हैं, फिर भी खाने को भी भूसा दिया जाता है। वह भी समय पर मिले न मिले। कभी मनुष्य भूल गया पानी देना तो प्यासे ही खड़े हैं। जरा विशेष भूल गया तो प्यासे ही मर जाते हैं। यह सब क्या है। हम आपकी तरह ही तो जीव हैं। कैसी-कैसी दुर्दशायें हैं। एक वर्तमान में थोड़े से मौज और भोग के साधन पाकर इनमें ही रम जाना यही तो मूढ़ता की बात है।

### श्लोक-295

जेतुं जन्मशतेनापि रागाद्यरिपताकिनी।

बिना संयमशस्त्रेण न सद्भिरपि शक्यते।।295।।

संयम के बिना रागादि बैरियों पर विजय पाने की अशक्यता— रागादिक शत्रुओं की सेना संयमरूपी शस्त्रों के बिना सैकड़ों जन्म लेकर भी जीती नहीं जा सकती है। हम आप पर सबसे प्रबल रागादिक बैरियों का आक्रमण है। सब पदार्थ हैं, अपने-अपने प्रदेशों में हैं, मैं अपने प्रदेश में हूँ, अतएव मेरा कोई कुछ लग नहीं सकता। किसी का मैं कुछ हो ही नहीं सकता। सबकी अभेद्य अपनी-अपनी स्थिति है। सबका स्वरूप अकेला अभेद्य है, फिर भी यह आत्मा अपने आपके प्रदेशों में ही रहता हुआ ज्ञान द्वारा बाहरी पदार्थों की ओर आकर्षित होता है। यही है वास्तविक विपदा। यह बात जिसके नहीं हुई वही है वास्तविक अमीर। जो सम्यग्दृष्टि है, सम्यग्ज्ञानी है, अपने आपके स्वरूप में ही संयत रहा करता है वह ही वास्तविक अमीर है। जैसे सट्टा खेलने वालों के प्रति लोगों की यह धारणा रहती है कि अगर यह आज अमीर है तो भी इसका विश्वास क्या? जो एक रात भर में ही गरीब हो सकता है, जिसका ऐसा व्यापार है उसका क्या विश्वास? आज अमीर है कहो कल कुछ भी न रहे। जुवा खेलने वालों की ही तरह से समझ लीजिए कि जो आज हम आप लोगों को पद मिला है, आर्थिक स्थिति है, जो भी समागम मिले हैं उनका कुछ भी विश्वास नहीं है कि कब तक अपने पास रहें, प्रथम तो ये सब पर हैं, भिन्न हैं, और फिर पुण्याधीन हैं। जब पुण्य का ही विश्वास नहीं कि कब तक साथ दे तो फिर इन पाये हुए समागमों का क्या विश्वास। ऐसा जानकर सत्पुरुष रागादिक शत्रुओं के जीतने का उद्यम करते हैं।

आश्रयभूत व निमित्तभूत पदार्थों पर हमारा अनाधिकार होने से रागादिक पर ही विजय की शक्यता— यह बाह्यपदार्थ विषयभूत हैं, हमारे दुःख के निमित्तभूत नहीं है। हमारे क्लेश निमित्तभूत तो कर्मों के उदय हैं। और, जब उस प्रकार के कर्मों का उदय होता है उस काल में यह जीव जिन पदार्थों को विषय बनाकर दुःखी हुआ करता है वे पदार्थ हे आश्रयभूत। जैसे कोई बीच का मझोला आदमी अथवा पत्रवाहक राजदूत, इन पर क्रोध

तो नहीं करता। कोई आपके पास चिट्ठी लाये और किसी के मरे की खबर उसमें लिखी है तो क्या कोई डाकिया से भी लड़ने लगता है कि तू क्यों ऐसा समाचार पत्र ले आया? उस पर तो कोई गुस्सा नहीं करता। इसी तरह ये विषयभूत पदार्थ वैभव घर सम्पदा ये बीच के मझोला हैं, ये कष्ट के साक्षात् निमित्तभूत नहीं हैं। हमारे कष्टों का निमित्तभूत तो है कर्मों का उदय। लेकिन जब किसी से निपटना होता है तो उस मझोलिया का भी आश्रय छोड़ना होता है। इसी तरह जब हमें रागादिक से दूर होना है तो विषयभूत इन मझोलियों से हमें अलग हो जाना चाहिए। लेकिन इन पर घृणा की दृष्टि न करनी चाहिए। घृणा के योग्य तो हमारे विकार भाव हैं। तो निमित्त तो हुआ कर्मोदय और, रागादिक जो विकार हैं ये हुए साक्षात् क्लेश के उपादान। तो जीतना किसे है? विषयों को तो जीतना क्या। इन्हें जला दें, तोड़ दें, छोड़ दें। इन्हें छोड़कर बहुत दूर चले जायें तो जहाँ जायेंगे वहीं विषय रक्खे हैं तो इन विषयों पर क्या घृणा करें। और निमित्तभूत कर्मों पर हम क्या पुरुषार्थ करें। वे दिखते भी नहीं हैं वे हमारे हटाये हटते भी नहीं हैं। भिन्न पदार्थ हैं। हमारा पुरुषार्थ तो हमारे इन रागादिक शत्रुओं को दूर करने में हो सकता है। अब ये रागादिक विकार हमारे कैसे दूर हों, उसका उपाय है यथार्थ ज्ञान बनाये रहना। जब हम ज्ञान की ओर से कमजोर होते हैं तो ये रागादिक विकार हम पर रोब जमा देते हैं। जब हम अपने ज्ञानस्वरूप को सम्हालते हैं तो ये रागादिक विकार फटकते नहीं हैं।

**अपने सर्वस्व शरणभूत अन्तस्तत्त्व की शरणग्रहण में ही अपना कल्याणलाभ—** अब सोच लीजिए हमारा सच्चा साथी, हमारा सच्चा शरण, हमारा देव हमारा गुरु, हमारा हितकारी, हमारा प्रभु कौन है? सच्चा ज्ञानप्रकाश बना रहना यही है हमारा गुरु, यही है हमारा शरण, यही है सच्चा साथी। इस यथार्थ ज्ञान के बने रहने का नाम है संयम। रागादिक शत्रुओं की सेना संयमरूपी शस्त्रों के बिना बड़े-बड़े लौकिक महापुरुषों से सत्पुरुषों से भी राजा महाराजावों से भी सैकड़ों जन्मों में जीती नहीं जा सकती। तो विपदा है रागादिक भाव। उनका विजय करना है तो संयम शस्त्रों को ग्रहण करना चाहिए अर्थात् अपने आपको संयत बनाना चाहिए। देख लीजिए—कोई पुरुष शौक शान से रहता है, बहुत बढ़िया साज-शृंगार से अपने शरीर के शृंगार में और अनेक आभूषण चमकीले वस्त्रादिक से अपने को सजाने में रहते हैं, जिनका खानपान भी बिना संयम का है, जब चाहे खा लिया, कितनी ही बार खाया, जहाँ चाहे खाया, जैसे चाहे खाया, जिनका रहन-सहन सादा नहीं है, साज-शृंगार से भरापूरा है ऐसे पुरुष क्या आत्मा की सुध रखते हैं, क्या रागादिक विकारों से दूर रह सकते हैं? तो अपने को संयत बनाना चाहिए। अपना मन अपने ही वश रहे, अपने आपको अपने स्वभाव में नियमित कर सकें, ऐसे संयम के द्वारा ही रागादिक जीते जा सकते हैं। और संयम की प्रधानता नहीं है गृहस्थाश्रम में अतएव गृहाश्रम में रहकर रागादिक बैरियों को जीतना कठिन है।

## श्लोक-296

प्रचण्डपवनैः प्रायश्चाल्यन्ते यत्र भूभूतः।

तत्राङ्गनादिभिः स्वान्तं निसर्गतरलं न किम्॥296॥

अङ्गनासंसर्ग में स्वान्त की निश्चलता की असंभवता— जो मन स्त्री के रूपादिक को देखकर चंचल हो जाता है अर्थात् गृहस्थाश्रम में रहकर स्त्री का ही तो प्रसंग है ना, और वहाँ यह बात प्राकृतिक रूप से चलती रहती है कि उन स्त्रीजनों के रूपादिक को देखकर प्रेमयुक्त रागभरे बर्ताव सुनकर चलित मन हो जाता है तो जहाँ मन इस प्रकार चंचल हो सकता है ऐसे गृहाश्रम में रहकर अर्थात् स्त्री के संसर्ग में रहकर ध्यान की सिद्धि कैसे हो सकती है? बड़े-बड़े राजादिक भी जिन स्त्रियों के दर्शन संग से अर्थात् उन प्रचंड पवनों से चलित हो गए हैं ऐसे कामविषयक वातावरण में रहकर ध्यान की सिद्धि नहीं होती। देखिये ब्रह्मचर्य नाम है आत्मा में मग्न होने का। 5 पाप आत्मा में मग्न होने में बाधा डालते हैं, किसी का दिल दुःखाना, किसी के प्रति उसके घात का विकल्प बनाना, किसी के विषय में झूठ बोलना, चुगली करना, किसी की चीज चुराना, किसी के साथ छलकपट करना, कुशीलसेवन करना, परिग्रह का जोड़ना, ये सब बातें आत्मा में मग्न नहीं होने देती, बाधा देती हैं, अतएव ब्रह्मचर्य का उल्टा व्यभिचार। तो हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह, तृष्णा ये सब व्यभिचार हैं, क्योंकि ये आत्मा में मग्न नहीं होते देते। लेकिन व्यभिचार की प्रसिद्धि कुशील में है, हिंसा को, झूठ को, चोरी को और परिग्रह को लोग व्यभिचार नहीं कहते, केवल एक ब्रह्मचर्य के घात को व्यभिचार कहते हैं। इससे यह सिद्ध है कि इन 5 पापों में ब्रह्मचर्य का भंग करना, व्यभिचार करना, कुशीलसेवन करना ये आत्ममग्नता में विशेष बाधक हैं। कितनी-कितनी फिजूल की मोही जीवों के साथ विडम्बनाएँ लगी हुई हैं जिससे कुछ हित नहीं हैं सारी हानियाँ ही हानियाँ हैं। व्यभिचार आदिक खोटे कार्यों में मोहियों की ऐसी प्रवृत्ति होती है कि अपनी जान भी खो देने पर पापों की प्रवृत्ति उन्हें चाहिए। तो जहाँ काम का वातावरण रहता है, स्त्री का संसर्ग रहता है उस काम में ध्यान की योग्यता नहीं हो सकती है।

## श्लोक-297

खपुष्पमथवा श्रुङ्गं खरस्यापि प्रतीयते।

न पुनर्देशकालेऽपि ध्यानसिद्धिगृहाश्रमे॥297॥

गृहाश्रम में किसी भी देश काल में ध्यान की सिद्धि की अशक्यता— आकाश के फूल क्या किसी ने देखा? होते ही नहीं हैं। गुलाब, चम्पा, चमेली आदि के फूल होते हैं पर आकाश के फूल नहीं होते। इसी प्रकार गधे के सींग, खरगोश के सींग ये भी कभी नहीं होते? तो सम्भावना में कह रहे हैं कि कदाचित् आकाश के फूल हो जायें, गधे के सींग हो जायें पर किसी देश व काल में गृहाश्रम में ध्यान की सिद्धि नहीं होती। अर्थात् जो

मोक्ष का साक्षात् कारण हो ऐसा ध्यान गृहाश्रम में नहीं बनता। यद्यपि पंचम गुणस्थान तक गृहाश्रम है और देशसंयम अवस्था में धर्मध्यान बताया ही गया है, लेकिन इस प्रकरण में जो मोक्ष का साक्षात् बने ऐसे ध्यान की बात चल रही है। वह ध्यान गृहस्थावस्था में नहीं बनता। धर्मध्यान होता है और वह धर्मध्यान भी उत्कृष्टरूप से गृहाश्रम में नहीं हो सकता, इस कारण यद्यपि धर्मध्यान जो कि 4 प्रकार के हैं चारों ही धर्मध्यान चौथे गुणस्थान में सम्भव हैं। होते हैं लेकिन इनकी उत्कृष्टता नहीं हो पाती, इस कारण रूढ़ि के अनुसार संस्थानविचय धर्मध्यान को मुनि ने बताया है। होने तो लगता है चतुर्थ गुणस्थान से, पर इसकी उत्कृष्टता इस ध्यान की जवानी की दृष्टि से ऐसी प्रसिद्ध है कि संस्थानविचय धर्मध्यान माना है मुनियों के और विपाकविचय तक माना है श्रावकों के पञ्चम गुणस्थान में, और एक दृष्टि से चूँकि तीसरे गुणस्थान में मिश्र परिणाम होता है तो आज्ञाविचय की बात वहाँ से प्रकट होने लगती है, तो आज्ञाविचय को बताया है तीसरे में यह एक विवक्षा से रूढ़ि चल गयी है। इस रूढ़ि से केवल यह तात्पर्य ले कि गृहाश्रम में उत्तम ध्यान की सिद्धि नहीं हो पाती। यहाँ तक गृहाश्रम की निन्द्यता बतायी गई है। कुछ श्लोकों में और अब आगे परिणामों के अनुसार और दर्शनशास्त्र के आधार से तत्त्वचिंतना की दृष्टि से ध्यान की पात्रता का वर्णन किया जायगा। पर गृहाश्रम की इतनी बड़ी लम्बी चौड़ी निन्दा की कहानी करके आचार्यदेव ने गृहस्थजनों को यों सावधान किया कि गृहस्थजन अपने वर्तमान मौज आराम के इन समागमों में,, साधनों में रम न जायें और वे उसे अपराध मानें, उससे हटने का भाव बनायें और अपना लक्ष्य ऊँचा बनायें, शुद्ध तत्त्व की दृष्टि रखें और ऐसे ही शुद्ध होने के संयम की आराधना करें। साधुजनों को इस प्रकार सावधान किया है कि हे साधुजन ! तुमने जब गृहाश्रम को त्याग दिया है और अपने एकान्तवास आदिक साधनों से आत्मसाधना का उद्यम कर रहे हो तो अब कभी गृहाश्रम को आदर न देना, न संकल्प में उसका स्मरण करना। जो स्मरण करेगा वह अपने पद से भ्रष्ट है। जैसे कि पुष्पडाल मुनि की कथा प्रसिद्ध है कि किसी प्रकार थोड़ी सी भावुकता में आकर गृहाश्रम छोड़ दिया था और साधु होकर साधना करने में जुट गए थे लेकिन कुछ ही समय बाद उन्हें गृहाश्रम की याद आने लगी थी। उस समय उनके मित्र वारिषेण ने फिर कुछ घटनाएँ बनाकर उन्हें सचेत किया था। तो साधुजनों को यह शिक्षा दी है कि जिस गृहाश्रम का परित्याग किया है उस गृहाश्रम की अब याद न करना, उस ओर कुछ दृष्टि न देना। इन दोनों प्रयोजनों के लिए इस ध्यान के प्रकरण में गृहाश्रम की निन्दा की गई है।

**विकल्पाश्रमों से हटकर निर्विकल्प निजधाम में पहुँचने की प्रेरणा—** यद्यपि कोई भी पुरुष ऐसा नहीं है जो जन्म से गृहाश्रम से छूटा हुआ हो, भले ही कोई 8-9 वर्ष की उम्र से गृह का सम्बन्ध विच्छिन्न कर दिया हो, वह भी एक सीमा का छोटा सा गृहाश्रम है, लेकिन गृहाश्रम की जवानी तो भोगों के साधन संचय करने से शुरू होती है और उन भोग साधनों की संगति में इस जीव को आत्मा की सुध नहीं रहती है। तो हे आत्मन् ! अनेक यत्न करके अपने ज्ञानोपयोग को ऐसा ढालने का यत्न रख कि अधिकाधिक समय यह

ज्ञानस्वरूप निज अन्तस्तत्त्व के जानने में लगा रहे, अपनी ओर आये। जगत में बाह्य में कहीं भी कोई शरण नहीं मिलेगा जिस समय यह आत्मा जो कि अपने प्रदेशों में ही है, जिसके ज्ञानादिक गुण अपने प्रदेशों में ही हैं और जो कुछ यह करता है अपने प्रदेशों में ही करता है। जानता है तो वह भी निश्चयतः अपने को अपने प्रदेशों में ही जाननप्रकाश है, अपने ही प्रदेशों में आनन्दप्रकाश है। निश्चयतः सब कुछ ऐसी स्वस्थता होने पर भी जब वह ज्ञान अपनी ओर से विमुक्त होकर एक जाननप्रदेशों में पर की ओर सन्मुख होता है बस विपदायें और विडम्बनाएँ तब से ही प्रारम्भ हो जाती हैं। जैसे चाक की कील बीच में है और वह भ्रमण करती है, देखने में तो ऐसा लगता है कि इस कील ने अपना स्थान नहीं छोड़ा, जहाँ है तहाँ ही है, लेकिन उस कील से चिन्गारियाँ निकलती हों तो जिस ओर मुख करेंगे उस ओर ही चिन्गारियाँ बढेगी। यह ज्ञान यद्यपि आत्मा के धाम में ही विराजा है, आत्मा के स्थान को छोड़कर कहीं अन्यत्र ज्ञेयों में नहीं घुसता तथापि वह जिस ओर मुख करता है, रहता है आत्मा में ही। आत्मा में ही रहता हुआ पर की ओर जो इसने जानन पद्धतिरूप मुख किया है रागसम्बन्ध से पर की ओर आकर्षित हुआ कि बस इस परदृष्टि में सारी विडम्बनाएँ इस पर छा जाती हैं, मूल गलती यह है और जिसका परिणाम इतना कठिन भोगना पड़ता है जिसे कहते हैं यह समस्त संसार। तो इतना दुर्लभ अवसर पाकर यदि हम बाहरी-बाहरी बातों में ही उलझे रहे, अपने आप पर दया न कर सके, अपनी ओर झुककर अपने ही स्वरूपानुभव का आनन्दरस अमृत न पी सके तो फिर बतावो हम आप आत्मावों का भविष्य में क्या परिणाम होगा, क्या फल मिलेगा? इस कारण हम गुप्त ही गुप्त अपने में रहकर अपना झुकाव करके अपने आपके स्वरूपानुभव के अमृत का पान करते रहें, किसी भी स्थिति में किसी भी जगह हों इससे बढ़कर और कोई हित का पुरुषार्थ नहीं हो सकता।

## श्लोक-298

दुर्दृशामपि न ध्यानसिद्धिः स्वप्नेऽपि जायते।

गृहनतां दृष्टिवैकल्याद्वस्तुजातं यदृच्छवा॥298॥

दुर्दृष्टियों के भी ध्यानसिद्धि की अपात्रता— अब गृहाश्रम अथवा वनवास इन दोनों पर किसी एक ओर दृष्टि न देकर केवल एक दार्शनिक दृष्टि से ध्यान की पात्रता का वर्णन कर रहे हैं जो मनुष्य दृष्टि की विकलता से वस्तुतत्त्व को अपनी इच्छा के अनुसार ही मानते हैं ऐसे मिथ्याबुद्धि वाले पुरुषों के ध्यान की सिद्धि स्वप्न में भी नहीं हो सकती है। दृष्टिवैकल्य का अर्थ है कि जो तत्त्व जिस दृष्टि से निहारा जाता है उस तत्त्व की दृष्टि न हुई हो। पदार्थ का विरोध करने में दृष्टि का बड़ा आधार रहता है। मूल में दृष्टि विपरीत है तो समस्त वर्णन उसका विपरीत चलेगा। और, जिसकी मूल में दृष्टि विशुद्ध है उसकी सब बातें विशुद्ध चलेगी। दृष्टि तो एक नाव खेने वालों में जो कर्णधार का स्थान है ऐसा ही स्थान दृष्टि का है। तो चाहे यति भी हो कोई लेकिन

दृष्टि विशुद्ध न जगी, जिस प्रकार वस्तु है उस प्रकार से अविबोध न किया तो वहाँ भी ध्यान की सिद्धि नहीं हो सकती। ध्यान में विचार तो जाय और कुछ, पदार्थ हो और भाँति तो ज्ञानस्वरूप में मग्न नहीं हो सकता, क्योंकि उस वातावरण में उन्हें वह सुगमता प्राप्त नहीं होती। उनका वह आचरण दुर्गम होता है। जैसे व्यवहार में देखिये कि चीज तो है कोई विनाशीक और माना हो उसे ध्रुव तो उसमें कष्ट बढ़ता है। कष्ट दूर होने की बात नहीं होती है। मानो यह ध्रुव है, मान्यता में यह बात बसी है और रहता वह है नहीं सदा, तो बतावो उसको संक्लेश तो होगा या नहीं? जो बात जैसी नहीं है उसे वैसी न समझे और भली भाँति जाने तो उसमें ज्ञान ज्ञान में समा जाय, युक्त हो जाय ऐसा अवसर नहीं मिलता। इन ज्ञान ध्यान की सिद्धि के लिए ज्ञान सत्य होना चाहिए। सत्य दृष्टि जगे बिना ध्यान की सिद्धि स्वप्न में भी नहीं हो सकती।

### श्लोक-299

ध्यानसिद्धिर्यतित्वेऽपि न स्यात्पाषण्डिनां क्वचित्।  
पूर्वापरविरुद्धार्थमतसत्तावलम्बिनाम्॥299॥

**पूर्वापरविरुद्धार्थ मूढ़ पाखण्डिजनों के भी ध्यानसिद्धि का अभाव—** जो वस्तुस्वरूप से विपरीत तत्त्व का श्रद्धान करता है ऐसे मिथ्यादृष्टि जीव को गृहस्थावस्था छोड़कर यति हो जाने पर भी ध्यान की सिद्धि नहीं होती, क्योंकि पदार्थ जैसा नहीं है उस रूप से वह सच मान रहा है। देखिये सारी बात अपने आपमें ही हो रही है। यह ज्ञान पदार्थ के सम्बन्ध में विपरीतस्वरूप का जानन किया करे तो यह जानन विपरीत है और एक अंधकार की स्थिति है कि वह सत्य नहीं समझ सका। इसे सत्य नहीं सूझता, ऐसी स्थिति में अन्तः एक विप्लव होता है, क्लेद होता है, विरुद्ध ध्यान में पदार्थ के स्वरूप से विपरीत परिज्ञान से प्रकृत्या क्लेद उत्पन्न होता है और ध्यान की सिद्धि की वहाँ पात्रता नहीं होती। तो मिथ्यादृष्टि जन हैं वे गृहस्थावस्था को छोड़ दें, यति भी हो जायें तब भी ध्यान की सिद्धि नहीं होती। पूर्वा पर विरुद्ध पदार्थों के स्वप्न में वे सच्चाई मान रहे हैं। वे किस प्रकार से विपरीत श्रद्धान करते हैं, यह अब आगे वर्णन आयेगा, पर यहाँ इतना ही समझ लीजिए कि पदार्थस्वरूप के विपरीत परिज्ञान करने में आत्मा में ही खेद चलता रहता है। जब तक यह ज्ञान ज्ञानस्वरूप में ही मग्न न हो सके, वैसी पात्रता न जगे, तब तक ध्यान की सिद्धि नहीं होती।

### श्लोक-300

किं च पाषण्डिनः सर्वे सर्वथैकान्तदूषिताः।  
अनेकान्तात्मकं वस्तु प्रभवन्ति न वेदितुम्॥300॥

एकान्ताग्रहदूषित पाखण्डियों के वस्तुयाथात्म्यविज्ञान का अभाव— जो पाखण्डी सर्वथा एकान्तता से दूषित हैं वे अनेकात्मक वस्तु को जानने में समर्थ नहीं हो सकते। कुछ एक समीचीन धारा असमीचीन धारा का ऐसा ही प्रभाव है, जो एकान्त हठ वाले हैं उनके चित्त में यह धैर्य नहीं रहता कि इसके विपरीत जो कोई कुछ कहता हो हम उसकी दृष्टि से भी तो समझें कि किस दृष्टि में रहकर किस परिणाम में रहकर दूसरा कुछ बोल रहा है? इतना धैर्य ही नहीं रहता कि हठ करने वालों को तो अनेकान्तात्मकता की झलक कैसे आयगी? बड़े से बड़े स्वरूप के सम्बन्ध में विपरीत कहने वाले दार्शनिकों की बात को भी यह तत्त्व किस दृष्टि से ठीक हो सकती है ऐसी निगाह डालने पर वहाँ भी विरोध नहीं रहता। और, कल्याणार्थी पुरुष को विरोध करने का कोई प्रयोजन नहीं रहता, पर किसी तत्त्व का एकान्ततः हठ करके बात रखी जाये और उस हठ में अन्य जीवों को प्रकाश न मिल सके, इस कृपा से कौन बात करता है, पर उनका भीतरी चित्त खुद के लिए तो ऐसा स्पष्ट है कि किसी दार्शनिक की बात को उसके दिमाग को उसकी दृष्टि को सच बैठालकर अपने आपमें भेद न करें। जैसे कुछ उदाहरण ले लो— विभिन्न दार्शनिक हैं, ब्रह्मद्वैतवाद और क्षणिकवाद। ये दोनों अत्यन्त विरोधी हैं। ब्रह्मद्वैतवाद तो यह कहता है कि सारा जगत एक ब्रह्मस्वरूप है और वह अपरिणामी है, उसमें कोई बदल ही नहीं होती। और जितनी जो कुछ दुनिया में बदल है वह सब प्रकृति के द्वारा होती है। प्रकृति मायारूप है, व्यवहार है, असत्य है, ब्रह्मसत्य है और वह ब्रह्म अपरिणामी है, एक है, अभेद है, और अखण्ड है, जबकि क्षणिकवाद मानता है परिणामी है, भेद है, अनेक है, खण्ड-खण्ड है। कितना परस्पर में विरोध है?

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के विभ्रम से एकान्तवादों की निष्पत्ति— किसी वर्णन करने में द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव इन चार का जो माध्यम है जैनशासन वह इतना प्रकृष्ट माध्यम है कि इन्हीं चार की किन्हीं गलती से समस्त दर्शन बन गए। जैसे कोई अपने घर में ही रहकर सारे जगत की व्यवस्था कर लेता है ऐसा सामर्थ्य और कौशल जहाँ हो वहाँ कोई बड़ी प्रभुता समझियेगा। ऐसे ही एक दार्शनिक क्षेत्र में यह द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव चतुष्टरूप एक घर में ही विराजकर स्याद्वाद की और समस्त एकान्तवादियों की जो व्यवस्था बना दें समझ लो उनकी कितनी बड़ी प्रभुता है। विषय कुछ थोड़ा कठिन आ गया, पर कोई भी कठिन प्रकरण हो अनेक बार सुनने से ही तो सरल होता है। तो वस्तु में जानने के लिए चार धर्मों की दृष्टि आ गई है; पिण्डरूप, आकारप्रकाररूप, अवस्थारूप और शक्तिरूप। सबमें इन चार बातों को देखना चाहिए। जैसे यह चौकी है, पिण्ड तो ऐसा है, आकार इस प्रकार है, परिणमन इसका ढीलाढाला काला नीला इस प्रकार है, और शक्ति इसमें जो है सो है। इन चार से वस्तु की व्यवस्था बनती है अब इन चार में कुछ गलती बन जाय वह ही हो गया एकान्तमत का अन्यमत का, बस इस आधार पर सब दर्शनों का खोज निर्णयविवरण सब करते जाइये। सब दार्शनिक शास्त्रों में बीजभूत निर्णय करने की आधारशिला यह स्वचतुष्टय आप देख

लीजिए कि एक अद्वैतवाद और एक क्षणिकवाद परस्पर में अत्यन्त बैरी हैं। यह मानता कि ब्रह्म है वह एक है तो यह मानना कि जगत में पदार्थ अनेक हैं। अकेला स्कंध या बहुप्रदेशी कोई पदार्थ नहीं होता, वे सब मिथ्या कल्पनाएँ हैं। द्रव्यदृष्टि से अद्वैत ने माना एक तो पिण्डदृष्टि क्षणिकवाद ने उसे माना अनेक। और, क्षणिकवाद में समस्त पदार्थ केवल एकप्रदेशात्मक होते हैं। वहाँ अस्तिकाय नहीं है जबकि अद्वैतवाद में वही एक ब्रह्म समस्त जगतरूप माना गया है। कालदृष्टि से वह ब्रह्म अपरिणामी है, कूटस्थनित्य है, तो यहाँ पर उसके मुकाबले में कहा कि कोई पदार्थ दो समय ठहरता नहीं, सब एक समय रहते हैं। भावदृष्टि से इस अद्वैत ने माना सर्वक्लेशमय, तो क्षणिकवाद ने माना निरंश, एक प्रतिच्छेदी। वहाँ समन्वय का काम नहीं है। इतने बड़े विरोध में मुकाबलेतन दोनों दर्शनों को जो स्याद्वाद एक जगह में समन्वय कर सकता है ऐसे स्याद्वाद में आप देखिये कितनी गम्भीरता और धीरता बसी हुई है। और, हम आप बात-बात में बात तो जितनी होती है सब भिन्न होती है। जरासी भी प्रतिकूल बात कह जाने पर हम जरा सी देर में बैरी मान लें, मुकाबला करने लगे, विरोध करने लगे तो समझिये कि हमने अपने लिये क्या किया? आचार्यदेव का हृदय इतना स्वच्छ था कि वे अपने में किसी दर्शन के कारण खेद नहीं उत्पन्न करते थे। यह तो उनकी अपने लिए देन थी। और, जगत के जीव कहीं एकान्तवाद से भ्रान्त न हो जायें तो उनको समझाने के लिए स्याद्वाद ने उनका समन्वय दे डाला। कहने का प्रयोजन यह है कि जिसे विशुद्ध दृष्टि नहीं प्राप्त हुई है वह अनेकान्तात्मक वस्तु को जानने में समर्थ नहीं हो सकता, तब ऐसी स्थिति में क्या दशा होती है सो सुनिये।

### श्लोक-301

नित्यतां केचिदाचक्षुः केचिच्चानित्यतां खलाः।

मिथ्यात्वान्नैव पश्यन्ति नित्यानित्यात्मकं जगत्॥301॥

**मिथ्यात्वग्रस्त पुरुषों के वस्तुयाथात्म्य का अदर्शन—** कोई पुरुष तो वस्तु में नित्यता ही कहते हैं। प्रत्येक पदार्थ नित्य है, उसमें कोई परिवर्तन ही नहीं होता। जैसे अभी बताया था कि अद्वैतवाद नित्य मानता है। यहाँ केवल कालदृष्टि से वर्णन किया गया है। अभी चतुष्टय से बात कही थी। प्रत्येक दर्शन में चाहे वह एकान्तवाद में आया हो, पर जो भी वर्णन करेगा, वह द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव को छोड़कर वर्णन नहीं कर सकता। चाहे मिथ्या वर्णन करे, चाहे सम्यक वर्णन करे, हम आप सब लोग जितना जो कुछ जानते हैं, व्यवहार करते हैं, वर्णन करते हैं चाहे समझ न सकें लेकिन द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव इनका आधार छोड़कर हम आप कुछ बोला ही नहीं करते। कैसी बात निकली है अथवा निकली क्या है— एक आप्त परम्परा से कैसा स्पष्ट वर्णन चला आया है उस निर्णय की पद्धति कितनी स्पष्ट है। किसी भी दर्शन को ले लीजिए, कुछ चिन्तना के बाद आप वहाँ बता देंगे कि द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव इनमें से किस जगह क्या गलती हुई है। तो

कालदृष्टि से कोई लोग नित्य मानते हैं। तो कोई लोग अनित्य मानते हैं, लेकिन ये सब कुछ पदार्थ नित्यात्मक हैं ऐसे मिथ्यात्व के उदय से वे निरख नहीं सकते। जो दर्शन शास्त्र में मतों के नाम हैं वे मत आज उस नाम से प्रचलित नहीं है— जैसे सांख्य, नैयायिक, मीमांसक, बौद्ध, जैन इन मतों के नाम प्रचलित नहीं हैं। आज कुछ दूसरे-दूसरे नाम हैं, जैन, ईसाई, मुसलमान, बौद्ध आदिक। पहिले दर्शन के आधार से नाम प्रचलित रहा करते थे और जब से यह प्रचलन हटा तब से जैनशासन तो ऐसा रहा अथवा कुछ-कुछ बौद्धशासन भी है कि जो दर्शन में माना है उसही के आचरण की प्रेरणा है और उस ही के नाम पर मत रखा गया है, करीब-करीब यह बात घटित है लेकिन अन्यत्र ऐसा मिलता मैं कि कुछ नैयायिकसिद्धान्त, कुछ वेदान्त सिद्धान्त ये सब बातें चलती हैं। जैसे नैयायिकों के यहाँ कर्ता हर्ता माना और अपरिणामी माना, कुछ पर विरोध भी रखते हैं पूर्वा पर। इन सब बातों से जिनकी दृष्टि अविकल है, सर्वदृष्टियों से वस्तु का निर्णय करते हैं उन्हें वहाँ कोई सन्देह नहीं रहता। आत्मा यदि अनित्य है तो प्रथम तो यह बड़ा विवाद होगा। जैसे एक कहानी में कहते हैं कि एक ग्वाला किसी क्षणिकवादी की गाय चराता था। जब महीने पूरे हो गए तो ग्वाला ने चराई मांगी। तो क्षणिकवादी बोला कि जिसे गाय दी थी वह तो अब रहा नहीं, क्योंकि आत्मा तो क्षणिक है। हम किसे चराई दें। तो वह ग्वाला भी बड़ा चतुर था। उसने दूसरे दिन गाय न भेजी, अपने घर में बाँध लिया जब गाय न आयी तो अब इसकी अटकी। यह गया ग्वाले के पास, कहा कि आज तुमने हमारे घर गाय क्यों नहीं भेजी? तो वह बोला कि जिसने गाय चराने को हमें दी थी वह आत्मा तो मर गया, अब किसके घर गाय भेजे तो उसकी समझ में आया। बोला— भाई हम भूल में थे, अपनी चराई लो और हमारी गाय दो। तो आत्मा को क्षणिक मानने से कुछ भी व्यवस्था नहीं बनती। जो चीज नित्य ही है, उसमें कोई अवस्था ही नहीं होती है तो परिणमन भी नहीं है फिर बात ही क्या होगी, व्यवहार भी क्या होगा, प्रवृत्ति भी क्या होगी और आचरण भी क्या होगा? सो तो स्पष्ट विरोध है। स्याद्वाद दर्शन में यह बताया है कि वस्तु का जो मूलभूत रूप है वह तो शाश्वत है, नित्य है, किन्तु कोई भी पदार्थ किसी अवस्था को लिए बिना रह ही नहीं सकता। यदि कुछ है तो उसमें कुछ न कुछ अवस्था होगी। वही अनित्य है। यों समस्त जगत, समस्त पदार्थ नित्यानित्यात्मक हैं, केवल नित्य मानने में भी दोष, केवल अनित्य मानने में भी दोष।

**विपरीत को सही माननेरूप विभ्रम में अनर्थ—** मिथ्यात्व का उदय होता है तो अपनी बुद्धि से कल्पनाएँ करके कुछ भी सिद्धि करके संतुष्ट हो जाते हैं इसी को कहते हैं भ्रम। जिसे किसी ने खूब समझा दिया और बता दिया, देखो हम जो कहते हैं सो ठीक है बाकी सब लोग गड़बड़ हैं, किसी की बात न मानना और किसी तरह बैठ जाय छाप तो उसकी दशा कैसी भ्रान्त रहेगी। मान लो किसी गांव के किनारे कोई मजाकिया रहता हो और यात्रियों से वह कह दे— देखो अमुक रास्ते से जाना तो अमुक जगह पहुँचेंगे, नहीं तो रास्ता भूल जाओगे, और ये जो गांव के लोग हैं वे सब तुम्हें गलत रास्ता बतावेंगे, सभी मजाकिया हैं, एक हम ही दूध के धोये हैं। तो हो रास्ता पूरब का और वह बता दे पश्चिम का रास्ता। आखिर मुसाफिर पश्चिम के रास्ते में

बढ़ता गया। जब बहुत आगे बढ़ गया तब पता पडा अरे हम तो रास्ता भटक गए। तो भ्रम की बड़ी चोट होती है। जिसकी दृष्टि विशुद्ध नहीं है और पदार्थस्वरूप का एकान्त हठ रखता है ऐसे पुरुष के ध्यान की सिद्धि नहीं होती है। ध्याता, ध्यान, ध्येय कुछ भी वहाँ व्यवस्थित नहीं है। इस ध्यान के प्रकरण की बात वहाँ कही जा रही है कि गृहाश्रम में ध्यान की सिद्धि नहीं है। उसे भी छोड़कर मुख्य बात दृष्टि की विशुद्धि है। सम्यग्ज्ञान प्राप्त करें, दृष्टि विशुद्ध बनायें और उस ज्ञानप्रकाश में अपने आपको मग्न करके समस्त संकटों से दूर रहें।

### श्लोक-302

वस्तुतत्त्वापरिज्ञानात्किं ध्येयं क्व च भावना।

ध्यानाभ्यासस्ततस्तेषां प्रयासायैव केवलम्॥302॥

वस्तुतत्त्व के अपरिज्ञान में ध्येय व भावना की असिद्धि— जिनके वस्तुस्वरूप का यथार्थज्ञान नहीं होता उनके ध्येय क्या है और भावना कहा करें यह कुछ भी युक्त नहीं रह सकता। किस चीज का चिन्तन करना चाहिए इसका वहाँ कुछ परिचय नहीं है। जो दिखने वाले पदार्थ हैं, इनका क्या स्वरूप है और जो जानने वाला हो उसका क्या स्वरूप है यों अपने का और पर का निर्णय किए बिना ध्यान क्या बनेगा। केवल इस भावना में कि भगवान मुझे सब कुछ करेगा सो भक्तिपूर्वक केवल भगवान की ओर एक आशा लगाये रहना इसमें ध्यान तो नहीं बना। ध्यान की बात कह रहे हैं, और भगवान के स्वरूप का ही यदि यथार्थ विचार करने लगे तो ध्यान बन जायगा। ध्यान वस्तु के स्वरूप के विचार से सम्बन्ध रखता है और अन्य जगह अन्य परिचय में ऐसी प्रतीक्षा इससे सम्बन्ध रहता है। प्रभु शुद्ध ज्ञाताद्रष्टा है, भगवान का ज्ञान सर्वजगत को जानने वाला है और यह सबको जानने की पर्याय भगवान के ज्ञानस्वभाव से उठी हुई है, वहाँ से निकल रही है उस जानकारी के ठौर का परिचय हो तो उसने आत्मा के स्वरूप को छुवा है। केवल बाहर-बाहर जानने से भी उसे सम्यग्ज्ञान नहीं बना। जाननहारे का सही परिचय होने पर सम्यग्ज्ञान बनता है। हम सबकी तो व्यवस्था करते रहें और अपने आपका कुछ परिचय ही न पायें तो हमारा उपयोग टिकेगा कहाँ? बाहर के पदार्थ तो सब भिन्न हैं, विनाशीक हैं, कुछ समय रहते हैं, उन पर हम अपना ध्यान जमायें तो यह ध्यान तो बराबर टूटता रहेगा। वे विषय ही न रहेंगे अथवा ऐसा जो यह मन है जिसका विषय परवस्तुओं के सम्बन्ध में चिन्तन करना है वह मन भी चंचल है। मन को विश्राम कहाँ मिलेगा? मन को विश्राम अपने आपके आत्मा में मिला है और वह भी जब अपने आपको इस रूप में ग्रहण किया जाय कि मैं केवल ज्ञानज्योति स्वरूप हूँ,

अमूर्त आकाश की तरह निर्लेप केवल एक ज्ञानज्योति से परिपूर्ण हूँ ऐसा अपने आपको ज्ञानस्वरूप में ग्रहण करने पर मन को विश्राम हो सकता है अन्यथा कितनी ही ध्यान की प्रक्रियायें करें और उसका बाह्यसाधन है एक सामने बिन्दु रखकर उस ओर ही दृष्टि जमाना, कोशिश रखना, अभ्यास करना, स्थिर आसन करना अपनी श्वास को अपने भीतर अधिक देर तक रोके रखने का अभ्यास करना यही सारी की सारी बातें मन को विश्राम नहीं लेने देती। मन को विश्राम आत्मस्वरूप के यथार्थ परिचय से ही हो सकता है।

**वस्तुत्व के अपरिचय के कारण ध्येय व भावना न होने से ध्यानसिद्धि की असंभवता—** जहाँ मन परपदार्थों की जानकारी करता हुआ, राग करता हुआ चलेगा वहाँ मन कहाँ विश्राम कर सकता है। तो जिनके वस्तुत्व का यथार्थ परिज्ञान नहीं है उनके न कोई ध्यान है और न कहीं भावना जम सकती है, न उनके ध्यान का अभ्यास चल सकता है। कोई एक लक्ष्य बिन्दु तो हो कि हमें इसकी निरन्तर जानकारी बनाये रहना है, उसका ही तो अभ्यास करने की बात है ध्यान में। जिन्हें वस्तु तत्त्व का बोध नहीं है, अज्ञानी जन हैं, मोही पुरुष हैं उनका ध्यान का करना प्रयासमात्र है, उससे फल कुछ नहीं निकलता, इस कारण जिसे ध्यान चाहिए, शान्ति चाहिए, कल्याण चाहिए उनका सर्वप्रथम यह कर्तव्य है कि वे अपना और जगत का यथार्थ ज्ञान करें। इसके अतिरिक्त अन्य बातें जैसे धन का संचय करना, अपनी जायदाद बढ़ाना, लोक में अपना नाम यश बढ़ाना, समागम के बीच अपने आपको अपनी चतुराई दिखाकर बड़प्पन बताना, इन सब बातों से क्या सिद्धि होगी? ये सब असार बातें हैं। जैसे चोर-चोर आपस में अपनी चोरी की कला पर गर्व करते हैं और बड़प्पन मानते हैं ऐसे ही मोही-मोही पुरुष अपनी मोह की कला पर, रुतबा पर, बड़वारी पर और उसके साधनों की वृद्धि पर अपना गौरव मानते हैं, लेकिन वे सब बड़प्पन की बातें नहीं हैं, केवल पतन के साधन हैं, अपने आपके बड़प्पन की बात तो केवल सम्यग्ज्ञान में है। इस कारण अन्य सब बातों को भाग्य के अधीन समझकर उनकी उपेक्षा करें। घर में रहते हैं तो समय पर व्यापार सेवा आदिक के कार्य करने चाहिए। सब कुछ करते हुए में जो बीतती है उसमें ही व्यवस्था बनायें, सन्तोष करें। परपुरुषार्थ करें अपने ज्ञान और ध्यान के लिए। क्योंकि शान्ति का उपाय ज्ञान और ध्यान है, बाहरी पदार्थों का संग नहीं है। अनुभव भी लोग करते होंगे कि यह बाहरी पदार्थ विच्छेद के कारण हैं, उनसे क्षोभ मिलता है, आकुलताएँ होती हैं, चिन्ता और शल्य रहते हैं, आत्मतत्त्व में अपना ध्यान बनाने के लिये उत्साह नहीं रहता है, इस कारण यह बात बिल्कुल युक्त कही गई है कि वस्तु स्वरूप का ज्ञान न होने से न तो कुछ ध्यान रहे, न कुछ भावना जगे न ध्यान का अभ्यास बने, अतएव वस्तुतत्त्व के परिज्ञान में अपना यत्न बढ़ाना चाहिए।

### श्लोक-303

शतमाशीतं प्रथितं क्रियाविदां वादिनां प्रचण्डानाम्।  
चतुरधिकाशीतिरपि प्रसिद्धमहसां विपक्षीणाम्॥303॥

**श्लोक-304**

षष्ठिर्विज्ञानाविदां सप्तसमेता प्रसिद्धबोधानाम्।  
द्वात्रिंशद्वैनयिका भवन्ति सर्वे प्रवादविदः॥304॥

**क्रियावादी व अक्रियावादियों की स्वच्छन्दता—** ऐसे दर्शन जिसमें स्याद्वाद का समावेश नहीं है वे कितनी प्रकार के हैं? तो क्रियावादी 108 प्रकार के हैं। इनके भेद प्रभेद किसी समय बतायेंगे और उनकी विपक्षी अक्रियावादी के 84 भेद हैं, ज्ञानवादियों के 67 भेद हैं अथवा अज्ञानवादियों के समझिये। और विनयवादियों के 32 भेद हैं। अर्थात् जितने भी लोक में धर्म हैं वे सब वस्तु के स्वरूप के सम्बन्ध में निरूपण के आधार पर हैं। कोई लोग इसी से ही मुक्ति मानते हैं क्रियाकाण्ड किये जावें, चारित्रपालन किया जावे, व्रत तपश्चरण किया जावे, यद्यपि ऐसे काम करना भी किसी हद तक सहायक है पर ज्ञान की अपेक्षा न करके, श्रद्धान की अपेक्षा न करके केवल अपने मात्र किया जावे, करे बिना तो कुछ नहीं होता, दलील भी देते हैं, अरे केवल जानन-जानन से क्या रखा है, करे बिना कुछ नहीं होता, करना चाहिए। करने से ही होगा तो करते जावो, क्या करना चाहते हो? हाथ पैर की क्रिया ही तो करोगे, और क्या करोगे। तो क्रियावाद से मात्र केवल मुक्ति मानना और उसमें भी जो भेद बतावेंगे उनसे और स्पष्ट होगा। तो यों केवल क्रियाकाण्ड से अपनी परिणति से ही मन, वचन, काय की क्रिया करके अपने आपको सन्तुष्ट मान लेना यह भी एक प्रकार से एकान्त हठ है। कुछ न करे, अपने आप जो होना है होता है। यों प्रमाद में रहने से ही जो अपने को सन्तुष्ट मानते हैं, धर्मात्मा समझते हैं, वे भी एक तरह के हठी हैं। कोई केवल जानकारी मात्र से अपनी सिद्धि के हठी है। कोई केवल जानकारी मात्र से अपनी सिद्धि समझते है। जान लिया कि स्वरूप क्या है, बस करना कुछ नहीं है, उस ओर चित्त मत दो, विश्राम से रहो, यों अज्ञान में ही सन्तोष करते हैं ऐसे भी हठी पुरुष हैं।

**विनयवादादि आग्रहों में भी तत्त्वोपलब्धि की असंभवता—** कुछ ऐसे हैं कि विनय-विनय में ही धर्म मानते हैं, अपने आत्मा के ज्ञान पर, श्रद्धान पर, सदाचार पर कुछ बल नहीं है, केवल खूब विनय किए जावो तो ऐसे विनय में हठ भी रही। हठ यों कहलाती है कि केवल विनय-विनय से ही सिद्धि मान लेते हैं। न ज्ञान हो, न श्रद्धान हो तो कहाँ से सिद्धि होगी? इसका कुछ ध्यान नहीं है तो यह भी हठ है। तो यों एक तत्त्वपरिचय बिना अनेक प्रकार की हठ करके जीव अपने पथ से च्युत हो जाते हैं और क्लेश के मार्ग में लगे रहते हैं। यथार्थ तत्त्व का परिचय होना यह बड़े ही होनहार जीवों को प्राप्त होता है। प्रमाद की बात देखिये— हम आप जितने भी मनुष्य हैं सबके ज्ञान है कि नहीं? और, ज्ञान की बड़ी योग्यता है। अगर योग्यता विशेष न होती तो अनेक लोग अविष्कार में बड़े-बड़े अपने कमाल दिखा रहे हैं और गणित आदिक के हिसाब में यहाँ वहाँ की सब व्यवस्थाओं में कितनी-कितनी अपनी योग्यता का परिचय दे रहे हैं। ये क्या अपने ज्ञान की बातें नहीं हैं।

जो बातें कठिन हैं उनमें तो बुद्धि खूब चलती है और जो बात अत्यन्त सरल है, यह है जानने वाला, यह है आत्मतत्त्व, उसकी जानकारी हो सके क्या यह सम्भव नहीं है? जिस ज्ञान में इतनी योग्यता है वह ज्ञान अपने को न जान सकें जरा ख्याल तो करिये कितने खेद की बात है? ये सब कुछ बातें एक दृष्टि पर अवलम्बित हैं। दृष्टि चाहिए, ध्यान खींचना चाहिए। आत्मा और अनात्मा का सही ज्ञान हमारे कल्याण का साधक है। यदि हम केवल आत्मा की ही बात करें तो यह सम्भव नहीं है कि परतत्त्व का निर्णय किए बिना आत्मा की कुछ बात समझ सकें। तीसरी बात यह है कि जिन परतत्त्वों में परपदार्थों में हम मोह करते चले आ रहे हैं, रागी बने चले आ रहे हैं, उनसे राग हटना हमारा तभी तो सम्भव है कि हम परपदार्थों के विषय से उल्टा ज्ञान करके राग करते थे तो अब हम सही ज्ञान कर लें तो हमारा राग दूर हो जाय।

**यथार्थ ज्ञान द्वारा ही विभ्रमज क्लेशों के विनाश की संभवता—** यथार्थज्ञान द्वारा विभ्रमज क्लेश से तुरन्त निवृत्ति होती है। सामने पड़ी हुई किसी रस्सी में अंधेरे उजले में सांप का भ्रम हो जाय तो एक उल्टा परिज्ञान करने से उसे कुछ क्लेश होंगे। हालांकि कोई विपदा का वहाँ अवसर नहीं है लेकिन चित्त में जब उल्टी प्रतीति हो गयी तो अच्छे धाम में रहकर भी वह दुःखी हो रहा है। अब कभी कुछ साहस करके थोड़ा निकट जाकर जान जाय कि यह तो रस्सी है और भी निकट जाकर जब रस्सी को हाथ से उठाकर पक्का निर्णय कर ले कि यह रस्सी ही है तब फिर बतावो उसको कहाँ कष्ट है? ऐसे ही हम जगत की इस अनित्य पर्याय के सम्बन्ध में सोचते रहते हैं— यह मेरा है, भला है, सदा रहेगा, तो यों उल्टा परिज्ञान किया कि नहीं किया? देख लो ना, उल्टी श्रद्धा करने वाले कितने मनुष्य मिलेंगे, सबको अपने परिवार में, कुटुम्ब में, मित्रों में, शरीर में, वातावरण में, मजहब में, जाति कुल में, आत्मीयता बसी हुई है, यह मेरा है, यह अच्छा है। तो जब वस्तु के सम्बन्ध में उल्टी बुद्धि बनी हुई हो तो वहाँ विश्राम कैसे मिल सकता है, और, जब ही सही परिचय हो जाता है कि समस्त पदार्थ स्वतंत्र हैं, भिन्न हैं, किसी भी परपदार्थ से मेरे आत्मा का बड़प्पन नहीं है, मेरे लिए दुनिया में कोई शरण नहीं है, मेरे लिए शरण तो ज्ञानस्वरूप की आराधना है। परमार्थ से शरण तो अपने आत्मा का जो चैतन्यस्वभाव है, ब्रह्मस्वभाव है उसकी आराधना करना है। और फिर जिन आत्माओं ने इस चैतन्यस्वभाव की उपासना की और उसके फल में अत्यन्त विशुद्ध वीतराग निर्दोष तत्त्व सर्वज्ञ हुए, ऐसे आत्माओं की आराधना करना यह शरण है, अन्यत्र जगत में कहीं कोई शरण नहीं है। जब यथार्थ ज्ञान हो जाय तब इसके समस्त कष्ट दूर हो जाते हैं। तब तक पर में आकर्षण था, कष्ट था। अब पर का आकर्षण मिटा, आत्मा अपने आपमें विश्राम में आ गया। देखिये नाता केवल इतना ही है और का। किस और सम्यक् हुआ ज्ञान। बात यही तक है, इसके आगे और कुछ नहीं है। इसके आगे जो कुछ कल्पनाएँ करता है यह जीव वे सब बाहरी-बाहरी बातें हैं, मुझमें नहीं हैं, मुझमें तो इतनी भर बात है कि यह ज्ञान मेरा किस ओर जा रहा है? बहिर्मुख हो रहा है या अन्तर्मुख हो रहा है। यहाँ केवल इतना ही दाँवपेंच है। इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। मगर फल देखिये कि बहिर्मुख होने का फल यह सारा संसार संक्लेश है और अपने

आपके अन्तर्मुखी ज्ञान हो तो इसका फल आनन्द, शान्ति, सन्तोष, कल्याण सब कुछ श्रेय हम आपकी केवल इतनी भर दूकान है, इसके आगे और कोई बात नहीं है। ज्ञान बाह्यपदार्थों की ओर जानने के लिए उद्यत रहे या तो यह बात होती होगी या बिरले पुरुष ऐसे भी हैं कि जिनका ज्ञान अपने आपके सहज चैतन्यस्वरूप की ओर लगा रहे, इस ओर दृष्टि रहे या यह बात होगी स्व और पर। आत्मा और अनात्मा। प्रयोजनवश बात कही जा रही है। दो बातों में सब जगत आ जाता है— जीव और अजीव, आत्मा और अनात्मा, एक विधिरूप और एक वृद्धिसेवारूप। तो एक तो हुआ निज और कोई भी जाननहार है, और बाकी हैं ये सब पर। पर की ओर उन्मुखता हो वहाँ संकट है और जहाँ स्व की ओर उन्मुखता हो वहाँ संकटों का अभाव है वह श्रद्धा हमारी दृढ़ बनी रहे। हम सदैव यह श्रद्धा बनायें कि सिवाय हम इतना काम करने के और कुछ नहीं कर रहे हैं। बाहरी पदार्थ आते हैं, जाते हैं, रहते हैं, नहीं रहते हैं, क्या होता है, यह सब उनके ही स्वरूप में काम चल रहा है। मेरे से क्या सम्बन्ध? उन सब बाह्यपदार्थों का मेरे से क्या रिश्ता? जो आपके घर में वैभव है उसकी बात कह रहे हैं कहीं यह न समझना कि किसी गैर की बात कह रहे हैं। किन्तु वैभव की नहीं कह रहे हैं। जिसमें मोह है उस विभूति की बात कही जा रही है। कुछ सम्बन्ध नहीं है।

**अन्तर्दृष्टि बिना कल्याणलाभ की अशक्यता—** अन्तर्दृष्टि करके निहारो, क्या मिलेगा अपने अन्तरङ्ग में? है कोई अमूर्त ज्ञानमात्र पदार्थ जो इस देह के अन्दर रहता हुआ भी देह से न्यारा है। लोग तो इस देह को ही निगाह में रखकर व्यवहार करते हैं, कोई किसी का सम्मान करता हो, अपमान करता हो तो देह पर दृष्टि रखकर ही तो करता है। जितना लोकव्यवहार है वह सब बाह्यदृष्टि करके हो रहा है। कौन किस आत्मा में प्रेम करता है। यदि आत्मा की दृष्टि करके करे तो एक अड़चन यह हो जायगी कि इस पर ही क्यों प्रीति की जा रही है। वह स्वरूप तो सर्वत्र एक समान है, फिर तो स्वरूप का स्नेह होगा, व्यक्ति का स्नेह न होगा। यदि कोई आत्मा का परिचय करके मोह व्यवहार करना चाहता हो तो वह व्यवहार न बन सकेगा। मेरा व्यक्ति से सम्बन्ध है और इस दृष्टि का स्वरूप से सम्बन्ध है। और जहाँ तक व्यवहार है वहाँ तक संकटों का सामना है। यह हमारा लोकव्यवहार छूटे और आत्मा आत्ममग्न हो वहाँ इसके संकट नहीं रह सकते। तो क्या करना है हमें शान्ति के लिए? अपने आपमें ही कुछ करना है, बाहर में कुछ नहीं करना है। अपने आपमें यथार्थ पुरुषाश्र करने की कमी होने पर यात्रा, पूजन, दर्शन, सत्संग ये सब करने पड़ते हैं और ये सब इस ही लक्ष्य की पात्रता बनाये रहने के लिए करने पड़ते हैं। वास्तव में करने योग्य कार्य तो आत्मश्रद्धान यथार्थरूप है। प्रयत्न करके जैसा जो कुछ सही अनुभव किया उस रूप में ही सही श्रद्धा बनी रहे। मैं यह हूँ, इस श्रद्धा में या तो कह लीजिए कि मैं बुझ गया था यों कह लीजिए कि मैं अलौकिक प्रकाश में आ गया। वहाँ फिर व्यक्ति की रेखा नहीं रहती। ऐसा अपने स्वरूप का श्रद्धान हो और इस ही आत्मा का ज्ञान हो और ऐसे श्रद्धान ज्ञान के प्रताप से जो आनन्द पाया है उस आनन्द के लिए इस शुद्ध श्रद्धान ज्ञान में निरन्तर निर्विकल्प अटूट ढंग से अपने को बनाये रहना यही है श्रद्धान, ज्ञान और चारित्र। सम्यक्श्रद्धान, सम्यक्ज्ञान और सम्यक् चारित्र यह

शान्ति का मार्ग है। आत्मा स्वयं सम्यक् है। इस सम्यक् का सम्यक् रूप से श्रद्धान करना सम्यज्ञान है। आत्मा स्वयं सहज सम्यक् है, इस सम्यक् का इस ही सम्यक् रूप में ज्ञान करना सो सम्यक्ज्ञान है। यह अंतस्तत्त्व स्वयं सम्यक् है निर्दोष निर्लेप चतुष्टय स्वयं सम्यक् है इस सम्यक् आत्मा का सम्यक् रूप से आचरण करना, अपने आत्मा का आचरण है उपयोग। आत्मा में हाथ पैर तो नहीं हैं। तो इस उपयोग को इस सम्यक् सहज ज्ञानस्वभाव में बनाये रहना, रमाये रहना, स्थिर करना इसका ही नाम है सम्यक् चारित्र। तो ऐसा अपना विश्वास, अपना ज्ञान, अपनी ओर का झुकाव, अपनी लगन, अपने में मग्न होना, निर्विकल्प अनुभव होना यही शान्ति का मार्ग है। इसके विरुद्ध वस्तुतत्त्व का परिचय न होने पर अन्य-अन्य विकल्पों में इसे न शान्ति और न मुक्ति का मार्ग प्राप्त होता है।

**क्रियावाद—** वस्तुस्वरूप के सम्बन्ध में इसके विपरीत दृष्टि जगी है ऐसा पुरुष ध्यान से सिद्धि नहीं कर सकता। इस प्रकरण में कुछ मिथ्यादर्शनों के प्रकार बताये गए हैं। कुछ लोग क्रियावादी होते हैं। क्रियावादियों का मंतव्य है कि यह जगत क्रिया का ही रूप है और क्रिया ही धर्म है और क्रिया ही तत्त्व है। क्रियावाद में 5 विषय होते हैं—काल, ईश्वर, आत्मा, नियति और स्वभाव। क्रियावादियों का मंतव्य है कि काल ही सबको उत्पन्न करता है और काल ही सब प्राणियों को नष्ट करता है। काल कहो, समय कहो, यम कहो तथा सोते हुए प्राणियों में काल ही जगता है तथा सोते हुए प्राणियों को काल ही जगाता है। ऐसे काल को ठगने के लिए कौन समर्थ हो सकता है। इस प्रकार काल की क्रियाओं को ही सब कुछ तत्त्व मानने वाले अपने आत्मा के विषय में प्रमादी हुए विपरीत दृष्टि में समय गंवाते हैं। भला ज्ञान ज्ञान में लीन हो जाय, ज्ञानस्वरूप ज्ञान का विषय रहे ऐसे पवित्र कृत्य की पात्रता उन क्रियादृष्टियों में कैसे जग सकती है।

**अक्रियावाद—** कुछ लोग अक्रियावादी होते हैं। इनका मंतव्य है कि इनका आत्मा अनाथ है। जगत के ये सब जीव कुछ नहीं हैं। जैसे किन्हीं कम्पनियों में खेल के पुतले बनते हों तो उन पुतलों में क्या दम है, बनाने वालों ने बना दिया, इसी तरह संसार के जीवों में भी सार नहीं है, अनाथ हैं, ये कुछ भी कर नहीं सकते। इन आत्माओं को सुख दुःख, स्वर्ग भोगना, नरक भोगना ये सभी बातें ईश्वर किया करता है। ऐसा क्रियाशून्य सबको माने तो यह अक्रियावाद है। इसमें भले ही कुछ लोग ईश्वर की महिमा समझे किन्तु ईश्वर के स्वरूप का अवर्णवाद है वह। ईश्वर अनन्त ज्ञान अनन्त आनन्द का स्वामी होता है। ईश्वर में रागद्वेष किसी भी प्रकार का विकल्प नहीं रहता है। भला इस ज्ञानपुञ्ज आत्मतत्त्व में किसी भी प्रकार का संकल्प जगना किसी भी प्रकार की विभिन्न वृत्ति जगना यह तो लांछन है, गुण नहीं है। यह अंतस्तत्त्व समररस से पूर्ण है, वहाँ विभिन्नता कभी भी किसी भी काम में रंच नहीं होती है। हो कुछ विभिन्नता तो वह दोष है।

ईश्वर अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तआनन्द, अनन्तशक्ति से सम्पन्न है, सो अक्रियावाद में एक तो प्रभु के अवर्णवाद का अपराध हुआ और फिर जब हम कुछ कर ही नहीं सकते तो जो कुछ भला बुरा कराया वह भगवान ने कराया। मालिक के द्वारा प्रेरित जब किसी नौकर से किसी का कोई काम बिगड़ जाय तो उसे

मालिक का अपराध माना जायगा या नौकर का। किसी जीव से किसी भी प्रकार सही, कोई पाप बन जाय तो ईश्वर में इतनी भी सामर्थ्य नहीं है कि उन्हें दुःख न दे। अपने आपको क्रियाशील, परिपूर्ण न मानने से केवल एक अपने आपको प्रमाद में मग्न कर लेना, आलस्य में अपने को बिताना यह एक बात रह जाती है। ईश्वरभक्ति का बहुत बड़ा प्रभाव है। और वह प्रभाव इस कारण है कि चूँकि मेरे स्वभाव का और प्रभु के विकास का साम्य है, वह एक ही तत्त्व है, एक प्रकार का पदार्थ है इस कारण प्रभाव अवश्य पड़ता है। शुद्ध मन से ईश्वरभक्ति कोई करे और यथार्थस्वरूप का चिन्तन करे तो अपने आप पर अवश्य प्रभाव होता है, और वह सुख शान्ति के लिए है।

**ईश्वरवाद—** कुछ लोग सुनते आये हैं या बड़े लोग कहते आये हैं इस कारण इसी श्रद्धा में रहते कि संसार में एक ही तो आत्मा है, वही देव है, व्यापक है, छूटा हुआ है, चैतन्य है, निर्गुण है, वही उत्कृष्ट है, इतने सारे गुण गाये फिर भी हाथ क्या लगा? कुछ नहीं लगा। अपने स्वरूप में अपना ज्ञान जमे तो वहाँ अवश्य निराकुलता आयेगी। लेकिन अपने स्वरूप को छोड़कर किसी बाहर में एक अथवा अनेक की कुछ भी कल्पनाएँ करते रहे तो ज्ञान ज्ञान में नहीं जुड़ता, युक्त नहीं बैठता। यह सब क्रियावाद के भेद में मान्यता चल रही है।

**नियतवाद व स्वभाववाद—** कुछ लोग नियतवाद को मानते हैं। जिस समय जिसके जैसा नियम से होना है वह उस समय उसके होता ही है। ऐसे नियम से वस्तुपरिणमन मानना नियतवाद है। इस नियतवाद में परिणमनविधि का लोप किया गया है। किस प्रकार से, किस ढंग से, क्या निमित्त पाकर किस स्थितियों में बात बना करती है, जैसे कि एक विज्ञान बाद में उसका अविष्कार किया जाता है। हो गया अट्टसट्ट जब जैसा होना था। यद्यपि कल जो होगा वह कल ही तो होगा, अभाव नहीं है, जिस समय जो हो वह होगा, मगर जो जिस पद्धतिरूप होगा उस पद्धति में परिणमन करने वाले में किस-किस प्रकार के परिणमन आविर्भूत होते हैं, उन दृष्टियों को हटाकर केवल नियति को माने, वह नियतवाद है। नियतवाद में स्वभावाश्रय का बल नहीं होता है।

स्वभाववाद में केवल स्वभाव स्वभाव ही माना जाता है। शाश्वत स्वभाव नहीं, किन्तु पर्यायों के स्वभाव को ही तत्त्व की बात कहते हैं। सब बातें प्रकृति से होती हैं। काँटे को नुकीला किसने बनाया? स्वभाव ने। ये पशु पक्षी भी चित्र विचित्र किसने बनाये? सब प्रकृति ने बनाये। मनुष्य जिस ढंग का होता है उसी रंग ढंग का होता है किसी मनुष्य पर गाय बैल जैसे रोम अथवा सींग न देखा होगा। किसी गधे के अथवा खरगोश के सिर पर सींग न देखा होगा। सो ये सब बातें क्रियावादी कहते हैं कि स्वभाव से हुई हैं, इसमें विधि का लोप किया गया है, जितनी भी विभिन्नता होती है वह स्वभाव से नहीं होती किन्तु जैसा निमित्त पाकर जिस परिणमन योग्य उपादान में जो बात चलती है, चलती है उस उपादान की ही परिणति से, किन्तु वहाँ विधि है, उस विधि का लोप किया गया क्रियावाद में। तो होने की बात को अनेक रूप से माने सो सब क्रियावाद है।

अज्ञानवादी निषेध निषेध को ही किया करते हैं। कुछ नहीं है, न परिणमन है, न जीव है, न तत्त्व है। ऐसा शून्य जैसा सिद्धान्त अज्ञानवाद में है। कौन देख आया कि जीव है या नहीं है। जो सप्तभंगों से जीव के बारे में या किसी के बारे में वर्णन करते हैं उन सबको कौन देख आया, कौन जानता है? इतना बड़ा अज्ञान का मंतव्य बनाना अज्ञानवाद है।

**विनयवाद—** एक होता है वैनयिकवाद। लोक में 8 प्रकार के जीव विनय करने योग्य हैं। देव, राजा, ज्ञानी, मुनि, बूढ़े लोग, बालक, माता और पिता। इनकी विनय करना लोक व्यवहार में योग्य है कि नहीं है। किन्तु यह विनय करना ही आत्मधर्म है ऐसी मान्यता आना सो मिथ्यात्व है। इनका विनय न करने से हानि है, इनके प्रति विनय होना ठीक है, किन्तु यही मोक्षमार्ग है, इसी से उद्धार होता है, जैसा कि अनेक लोग मानते हैं— भाई माता पिता का विनय करो तो तुम्हें मोक्ष मिलेगा। उसे एक आत्मधर्म के रूप में मानना और अपने आत्मा की ओर से बेसुधी होना यही है मिथ्याभाव।

यदि देव का विनय न करे तो वह कुपात्र है, ठीक नहीं है। राजा की विनय न करे तो तुरन्त क्लेश मिले, ज्ञानी का विनय न करे तो यों ही उसका मूढव्यवहार रहेगा, वह यत्र तत्र आपदा में भोगेगा। मुनि का विनय न करे तो उसके परिणामों में उच्छृंखलता रहेगी, विपदा ही पायेगा, बूढ़ों का विनय न करे तो उसमें भी अनर्थ है। प्रथम तो बुजुर्गों में बुद्धि प्रतिभा गम्भीरता बहुत होती है आखिर सारी जिन्दगी अनेक प्रकार के अनुभव में बितायी है। तो उनमें बुद्धि विशेष है—एक बात दूसरे कोई बूढ़े सठिया भी जायें तो उन बूढ़ों का अपमान करने का जो भाव रखते हैं उनकी बुद्धि में स्वच्छता नहीं रह पाती और फिर वे भी बूढ़े बनेंगे तब उन्हें कौन पूछेगा? तो बूढ़ों का विनय न रखने से लोक में कितनी अव्यवस्था बनेगी। बालकों का भी विनय करना चाहिए। अगर आप उन्हें तू तू करके बुलायेंगे तो उसमें नुकसान सम्भव है, उनकी बुद्धि विकसित नहीं हो पाती और, फिर वे बालक भी वैसा ही तू तू करके जवाब देंगे। आप विनयपूर्वक बालकों को बुलाते हैं तो उससे आपको लाभ है। वे भी आपसे विनयपूर्वक बोलेंगे। बड़े-बड़े घरानों में ऐसा रिवाज भी रहता है। बालकों से विनय रखने से घर का अच्छा वातावरण रहता है, और, माता पिता के विनय बिना भी कुगति है, तो यद्यपि इनका विनय करना चाहिए, पर विनय से ही जो सिद्धि मानते हैं अथवा कोई कोई गुण और अवगुण की परीक्षा किए बिना भी विनय से ही मुक्ति मानते हैं, इसको मिथ्याभाव कहा है। तो यों इन मिथ्या दर्शनों से जिनका चित्त वासित है ऐसे पुरुष ध्यान के पात्र नहीं होते।

पहिले गृहाश्रम में निवास की निन्दा की गई थी कि गृहवास में रहकर ध्यान नहीं बनता, अब यहाँ मंतव्य और विचार में परीक्षण किया जा रहा है। वह चाहे गृहस्थी हो चाहे यती हो, किन्तु मंतव्य यदि मिथ्याभाव का है तो उसे ध्यान की सिद्धि नहीं है। अर्थात् यह ज्ञान ज्ञान में मग्न होकर निर्विकल्प हो जाय और अपने आनन्दामृत का चिरकाल तक अनुभव करता रहे, यह सिद्धि मिथ्यादृष्टियों के नहीं होती है।

**श्लोक-305**

ज्ञानादेवेष्टसिद्धिः स्यात्ततोऽन्यःशास्त्रविस्तरः।  
मुक्तेरुक्तमतो बीजं विज्ञानं ज्ञानवादिभिः॥305॥

**ज्ञानवाद—** अब दर्शन, ज्ञान और चारित्र में एक-एक अथवा दो-दो अथवा तीनों को निरपेक्ष होकर एकान्त हठ करने का मंतव्य है उसमें भी सिद्धि नहीं होती है, इस बात को बतावेंगे। कोई लोग ज्ञान से ही सिद्धि मानते हैं, जितना जो कुछ शास्त्रों में विस्तारपूर्वक वर्णन है उसे एक विस्तारमात्र कहते हैं, ज्ञान का ही विस्तार है। कुछ चारित्र के भी ग्रन्थ है। कुछ कथानकों के भी ग्रन्थ हैं, कुछ युक्तियों के भी ग्रन्थ हैं, वे सब एक विस्तारमात्र हैं, मात्र ज्ञान हो उससे इष्टसिद्धि होती है अर्थात् मुक्ति का कारण एक ज्ञान ही है, ऐसी श्रद्धान ज्ञान की अपेक्षा न रखकर एक केवलज्ञान से ही सिद्धि मानते हैं, ये भी मिथ्यावादी हैं।

**श्लोक-306**

कैश्चिच्च कीर्तिता मुक्तिदर्शनादेव केवलम्।  
वादिनां खलु सर्वेषामपाकृत्य नयान्तरम्॥306॥

**श्रद्धावाद—** कुछ लोगों ने एक श्रद्धा से ही मुक्ति मानी है। श्रद्धा कर ले बस युक्ति है। प्रथम तो कोई केवल ज्ञान को मानता, कोई केवल श्रद्धा को मानता, कोई केवल चारित्र को मानता, मानें, फिर यदि यथार्थरूप में मान लें तो ज्ञान के ज्ञान में तीनों आ गए, श्रद्धा के मानने में तीनों आ गए और चारित्र के मानने में तीनों आ गए लेकिन यथातथा मनगढ़ंत अपनी कल्पनाओं के अनुसार किस ही को ज्ञान मान ले, किसी ही स्थिति को श्रद्धा मान लें, किसी ही स्थिति को आचरण मान लें तो उसकी यह चर्चा है। कुछ लोग नयों का निराकरण करके अर्थात् वस्तु विज्ञान की बात को तिलांजलि देकर केवल श्रद्धान से ही मुक्ति मानते हैं। यद्यपि किन्हीं-किन्हीं बातों में श्रद्धा से पुण्यबंध तो चलता है मुक्ति का कारण उनकी कल्पना की हुई श्रद्धा नहीं है। बहुत-बहुत श्रद्धालु पुरुष ऐसे भी हुए हैं, किन्हीं का यह नियम भी था कि बड़े सुबह उठकर मंदिर जाना, बोहारी से झाड़ना। उनका यह ध्यान भी रहता था कि हम पूजा करना नहीं जानते तो हम यह करें, इसी से ही पार हो जायेंगे। यद्यपि बात कुछ दर्जे तक ठीक तो है लेकिन जहाँ एक मुक्ति के मार्ग के प्रसंग की बात है वहाँ तो एक सो टंच जैसा निर्णय किया जाता है। वहाँ शुभ भावों को भी स्थान नहीं दिया गया

है। पुण्य को भी वहाँ समर्थ नहीं कहा गया है। तब कोई अपनी कल्पनानुसार किसी श्रद्धा से मुक्ति माने तो वह भी मिथ्यावाद है।

### श्लोक-307

अथान्यैर्वृत्तमेवैकं मुक्त्यङ्गं परिकीर्तितम्।

अपास्य दर्शनज्ञाने तत्कार्यविफलश्रमे॥307॥

**क्रियावाद के आग्रह में ज्ञानदर्शनशून्यता—** कुछ लोगों ने क्रिया को ही मुक्ति का कारण माना है। ज्ञान और श्रद्धा को व्यर्थ मानकर उनका खण्डन भी किया गया है। लगे रहे तपस्या में, गर्मी के, ठंड के ये सब तपश्चरण कर रहे हैं। ज्ञानी क्या ऐसा करता नहीं? करता है, पर ऐसा करते हुए में उनका अन्तरङ्ग उद्देश्य क्या है, इस बात को न समझकर केवल क्रियाकांड और देहकष्ट बाह्य तपश्चरणों से अपने आपको मुक्ति के मार्ग में जाना माने तो उसका यहाँ निषेध किया है। जो कोई धान खरीदता है तो उसके अन्दर सारभूत चावल तो रहते ही हैं, पर ऊपर से देखने में तो वही मटमैले रंग का कोई अनाज है। कोई मूढ़ माने उस रंग की भूस खरीदकर व्यापार करे, कीमत वही चुकाये जो चावलसहित धान खरीदने वाले ने चुकाया तो क्या उसे कोई कुशल कहेगा? वाह उसी रंग का मैंने खरीदा जिस रंग का उसने खरीदा, पर मुझे टोटा क्यों पड़ गया? ऐसा ही जैसा तपश्चरण ज्ञानी ने किया वैसा ही अज्ञानी ने किया, पर अज्ञानी को न अनाकुलता मिली, शान्ति मिली, और कहो पहिले तो शान्ति से रहता था और अब अशान्ति से रहता हो, पद-पद पर कहो क्रोध आता हो। भला इतना तो ऊँचा तपश्चरण किया और अब न विशेष सम्मान मिलता, न लोग प्रशंसा करते, अब गुस्सा न आये तो और क्या हो, जैसे घर में कोई उपवास कर ले किसी दिन तो घर वालों को 2-1 बार उसकी प्रशंसा, तो कर देनी चाहिए, नहीं तो बात-बात में उसे क्रोध न आयेगा तो और क्या होगा। एक तो भूखों भी मरे, दूसरे घर वाले ताना मार रहे, तो इसमें तो क्रोध ही जगता है। यह क्या हाल हो रहा है? एक लक्ष्य से भ्रष्ट होने से उद्देश्य सही न बन सकने से इन क्रियाकांडों में वह बात नहीं आ सकती जो ज्ञानियों के प्रकट होती है लेकिन ज्ञान और श्रद्धान को व्यर्थ मानकर केवल क्रियाओं से ही जिसने नेह लगाया है और उस क्रिया को ही जिसने मुक्ति का कारण माना है ऐसा पुरुष क्रियाओं को करके भी मिथ्यावाद से दूषित होने से ध्यान में सफल नहीं होता। ध्यान की सफलता का उत्तम इतना ही अर्थ है कि ज्ञान ज्ञानस्वरूप में मग्न हो जाय, और निराकुल आनन्दामृत का अनुभव करता रहे। इसकी पात्रता इन मिथ्या सिद्धान्तों मंतव्य में नहीं होती।

**श्लोक-308**

विज्ञानादित्रिवर्गस्मिन् द्वे द्वे इष्टे तथा परै।  
स्वसिद्धान्तावलेपेन जन्मसन्ततिशातने॥308॥

रत्नत्रय की एकता के बिना संकटों की असमाप्ति— जैसे मिथ्यावादियों के क्रियावाद आदि ढंग से सिद्धान्त बताया था इसी प्रकार श्रद्धान, ज्ञान और चारित्र में किसी एक को अथवा दो को या तीनों को निषेध करने का भी सिद्धान्त मिथ्यावाद है। कितने ही वादी अपने सिद्धान्त के गर्व से अपने मान्यता की हठ से तीन के प्रकरण में संसार संतति के नाश की परिपाटी में कोई एक श्रद्धान अथवा चारित्र को अथवा ज्ञान और चारित्र को अथवा श्रद्धान और ज्ञान को ही इष्ट करते हैं, कोई तो दर्शन ज्ञान को ही मोक्ष मानते हैं— कोई दर्शन और चारित्र से ही मोक्ष मानते हैं और कोई-कोई ज्ञान और चारित्र से ही मोक्ष मानते हैं। इस प्रकार ये तीनों वादी भी यथार्थ नहीं हैं, और इस मिथ्या मान्यता में उन्हें ध्यान की सिद्धि नहीं होती।

**श्लोक-309**

एकैकं च त्रिभिर्नष्टं द्वे द्वे नष्टे तथाऽपरैः।  
त्रयं न रुच्यतेऽन्यस्य सप्तैते दुर्दशः स्मृताः॥309॥

रत्नत्रय के निषेधविकल्पों से सप्त प्रकार के मिथ्यादृष्टियों का कथन— श्रद्धान, ज्ञान और चारित्र के निषेध में इनके विकल्प से 7 प्रकार के मिथ्यादृष्टि हो जाते हैं। जैसे कोई तीन चीजें हों तो उनके 7 विकल्प होते हैं। तीन तो वे चीजें हैं ही और उन तीनों में दो दो मिला लें तो 6 चीजें हो गईं और 6 को मिलाने से 7 चीजें होती हैं। जैसे लोग, रोटी और पापड़। ये तीन चीजें हैं, इनको 7 ढंग से खाया जा सकता है। रोटी साग मिलाकर खायें, रोटी पापड़ मिलाकर खायें, साग पापड़ मिलाकर खायें और तीनों को मिलाकर खायें, एक-एक करके खायें। सप्तभंग में भी यही बात है। कुछ भी चीज सिद्ध करना हो तो उसके विपरीत भी कुछ बात है किसी विवक्षा से। जैसे जीव को नित्य सिद्ध करना है तो नित्य तो सिद्ध कर दें, किन्तु किसी विवक्षा से जीव अनित्य भी है। उसके एकान्त में खण्डन नहीं किया जा सकता। जीव द्रव्यदृष्टि से तो नित्य है तो पर्यायदृष्टि से अनित्य है, कुछ भी कहो— स्याद्वादसिद्धान्त बताता है कि उसके विपरीत भी कुछ है, मुँह से कुछ भी बोला तो दो बातें तो हो ही गईं। जैसे कोई कहे कि हमारी यह बात सच है। तो इसके विरुद्ध दूसरी

बात इसमें यह भी गर्भित है कि हमारी बात झूठ नहीं हैं। जीव नित्य है तो दूसरी दृष्टि से यह भी है कि जीव नित्य नहीं है सारा जहान सप्रतिपक्ष है। कुछ भी एक शब्द ले लो, जीव है तो साथ में अजीव लगा है। जैन है तो अजैन लगा है। कुछ भी शब्द हो उसके विपरीत भी कुछ बात है। तो एक भी बात कहने पर दो बातें तो हो ही गयीं। दूसरी बात मुख से कहो अथवा न कहो, जब दो बातें हो गयीं तो दोनों को एक साथ बोला नहीं जा सकता। तो तीसरी और हो गयी अवक्तव्य। तीन तो स्वतंत्र धर्म हैं फिर इसमें दो-दो का भंग करे तो तीन और होते हैं। नित्यानित्य, नित्यअवक्तव्य और अनित्यअवक्तव्य। तीन धर्म होना तो प्राकृतिक बात है, बोल बोल में शब्द शब्द में। जो कहे वह एक उसका प्रतिपक्षी और एक अवक्तव्य। और तीन को मिलाकर एक और होता है। इस तरह 7 भंग होते हैं। इस प्रकार इस प्रकरण में श्रद्धान, ज्ञान और चारित्र का विनाश किया गया है ना अधर्म में। मिथ्यावादियों की तीन बातें हुई— श्रद्धाननिषेध, ज्ञाननिषेध और चारित्रनिषेध, तीन तो इस तरह के लोग होते हैं, और तीन होते हैं श्रद्धानज्ञाननिषेधक, श्रद्धानचारिद्धनिषेधक और ज्ञानचारिद्धनिषेधक। 6 हुए, और 1 हुआ श्रद्धानज्ञानचारित्रनिषेधक। इस तरह 7 मिथ्यादृष्टि जीव ये हुए। जिसने दर्शन और ज्ञान दो को ही मोक्ष का मार्ग माना उसने तो चारित्र को नष्ट किया। देखिये इस मिथ्यावादी को, पहिले तो इन शब्दों में कहना था कि केवल दर्शन और ज्ञान से ही जो मोक्ष मानें वे मिथ्यावादी हैं। इस ही को इन शब्दों में कह लो, जो चारित्र का निषेध करे वह मिथ्यावादी।

**स्याद्वादशासन में वस्तुपरिचय की पद्धति—** जैनदर्शन ने वस्तुस्वरूप के जानने का उपाय कितना मजबूत बताया है जिसकी प्रशंसा करने को शब्द नहीं हैं। प्रत्येक पदार्थ सब प्रतिपक्ष हैं। कोई भी चीज यदि है तो वही नहीं भी है। यह बात केवल सिद्धान्त में नहीं प्रत्येक व्यवहार में लोग बर्ताव करते हैं। यह अमुकचंद जी हैं ऐसा जिसने जाना उसके जानने में यह भी साथ लगा हुआ है कि इसके सिवाय यह और कोई नहीं है, पर यह तो स्याद्वाद है। स्याद्वाद शब्द शब्द में, ज्ञान ज्ञान में, अर्थ अर्थ में सर्वत्र स्याद्वाद की मुद्रा छिपी है। इसी कारण बताया है कि जिस ज्ञान में, जिस शास्त्र में स्याद्वाद की मुद्रा न हो तो वह प्रमाणिक नहीं है। जैसे व्यापारी लोग ट्रेडमार्क बनाये रहते हैं— जिस पर यह मार्क न हो उसकी हम गारन्टी नहीं ले सकते। इसी प्रकार जिस शास्त्र में स्याद्वाद की मुद्रा न हो तो वह प्रमाणिक नहीं है। जैसे कहा गया कि यह अमुकचंद हैं इसके साथ ही इसके अतिरिक्त अन्य कोई चंद लाला प्रसाद नहीं हैं। इनमें से किसी एक का खण्डन तो करें, सब मिट जायगा। यह अमुकचंद हैं यह बात न मानें तो फिर व्यवहार ही क्या, और अन्य कोई यह नहीं है। यह बात न मानें तो यह अन्य कोई सब बन बैठे। फिर व्यवहार क्या? तो प्रत्येक व्यवहार में स्याद्वाद का शरण लिया है सब मनुष्यों ने। जो स्याद्वाद का निषेध करते हैं वे भी स्याद्वाद का निषेध करते हैं वे भी स्याद्वाद के बल पर निषेध करते हैं जो रहते हैं व्यापार करते हैं रिश्ता सम्बन्ध मानते हैं, खाते हैं यह सब स्याद्वाद के बल पर है। तो उसे ज्ञान तो है कि है कि यह रोटी खाता है तो उसमें यह भी बसा हुआ है कि यह कंकड पत्थर वगैरह नहीं खाता है। अब किसी एक को मना करके तो देखो— उसका खाना ही खत्म

हो जायगा। तो स्याद्वाद के बिना कोई खा नहीं सकता, जी नहीं सकता, रह नहीं सकता, व्यवहार हो नहीं सकता, किन्तु मोह का ऐसा प्रताप है जिसके बल पर रहे हैं मोहीजन ऐसे कृतघ्न हैं कि उसी का निषेध करते हैं। वस्तुविज्ञान का उपाय मजबूत और उपायों से जो वस्तुधर्म बताया वह है अकाट्य। लोग तो कहीं पृथक् व्यक्ति के रूप में ब्रह्मा विष्णु महेश मान रहे हैं, पर यहाँ तो कण-कण में ब्रह्मा विष्णु महेशपना पाया जाता है। ब्रह्मा का तो काम सृष्टि का है तो पदार्थ में जो उत्पाद हो रहा है वही ब्रह्मत्व है। महेश का काम बताया संहार करने का, तो वस्तु में प्रतिक्षण जो पर्याय का विनाश चल रहा है वही महेशत्व है। विष्णु का काम बताया रक्षा करना, बनाये रहना, वही ध्रौव्य का अर्थ है तो विष्णुत्व भी प्रत्येक पदार्थ में निरन्तर पाया जाता है। इन्हीं शब्दों को तात्त्विक शब्दों में उत्पादव्ययध्रौव्य कह लीजिए। है लोक में कोई ऐसा पदार्थ जिसमें उत्पादव्ययध्रौव्य में से एक भी बात हीन हो गयी हो? मोक्षमार्ग के सम्बन्ध में भी देख लो— जिसको हमें मुक्त करना है उसका श्रद्धान, ज्ञान और चारित्र हो तब ही वह मुक्त हो सकता है यह बताया है। कुछ भी काम करना हो उस काम की विधियों का लक्षणों का श्रद्धान हो, आचरण हो तो वह काम बन सकता है। इसे व्यापार में घटा लो, लौकिक विद्याभ्यास में घटा लो, किसी भी कामकाज में घटा लो, विश्वास, ज्ञान और आचरण बिना किसी को उस काम में सिद्धि हुई है क्या? तो आत्ममुक्ति अर्थात् कैवल्य विकास जैसा महत्त्वपूर्ण इस केवल के श्रद्धान, ज्ञान और आचरण बिना सम्भव है क्या? मोक्षमार्ग भी किसी ढंग से बताया है। जितना उपकार हम आप लोगों पर महर्षिजनों का है जिसके प्रसाद से हमारे ज्ञाननेत्र खुले और हम सदा के लिए संसारसंकटों से छूटने का उपाय कर सकते हैं, उनका आभार मानने के लिए भी कोई शब्द है क्या दुनिया में?

**रत्नत्रय की विकलता में श्रेयोलाभ का अभाव—** इस ध्यान के प्रकरण में ध्यान का पात्र कौन नहीं है, किसको सिद्धि नहीं हो सकती यह बताया जा रहा है। और इस श्लोक में कह रहे हैं कि श्रद्धा का निषेध, ज्ञान का निषेध, चारित्र का निषेध और दो दो का निषेध और तीन का निषेध करने वाले 7 प्रकार के मिथ्यादृष्टियों को भी ध्यान की सिद्धि नहीं होती। तो एक तो ऐसे थे ये जो चारित्र को नष्ट कर रहे थे, और जो श्रद्धान को नष्ट करते हैं अर्थात् ज्ञान और चारित्र से ही मुक्ति मानते हैं, श्रद्धान का निषेध करते हैं वे भी मिथ्यावादी हैं। यहाँ भी सप्रतिपक्ष कथन आ गया। चाहे यह कहो कि श्रद्धान का निषेध करने वाले और चाहे यों कहो ज्ञान और चारित्र से ही मुक्ति मानने वाले ये दूसरे नम्बर के मिथ्यावादी हैं, और तीसरे वे मिथ्यावादी हैं जो केवलज्ञान श्रद्धान और चारित्र से ही मुक्ति मानते हैं अर्थात् ज्ञान का निषेध करते हैं। अब तीन प्रकार के मिथ्या विकल्प हैं दो दो का निषेध करने में। केवल श्रद्धान को ही मोक्ष मानें। ज्ञान और चारित्र का निषेध करें, ये चौथे नम्बर के मिथ्यावादी हैं, और 5 वें जो ज्ञान से ही मुक्ति मानें, श्रद्धान और चारित्र का निषेध करें, छठे वे जो चारित्र से मुक्ति मानें दर्शन और ज्ञान का निषेध करें और 7 वें मिथ्यादृष्टि वे हैं जो तीनों का ही निषेध करते हैं। अज्ञानी और ज्ञानी की परस्पर समझ में कितना बड़ा अन्तर है, जब कि अज्ञानी पुरुष

धर्मपालन करने वालों को बिगड़े दिमाग वाले हैं इस रूप में तकता है। क्या है, ढोंग है, सारे अवगुण ही अवगुण दिखते हैं। उनका अपना एक श्रद्धान है, विपरीत भाव है, उस भाव में उसे धर्मपालक ज्ञानीजन सब अयोग्य नजर आते हैं। और ज्ञानी पुरुष को साक्षात् कुछ आनन्द का भी अनुभव हुआ, शान्ति का भी कुछ अनुभव होता और उस ज्ञानी का प्रकाश भी स्पष्ट है। यह एक जाननमात्र आत्मा और इसमें ही केवल जाननहार रहे, मग्नता रहे तो उसमें ऐसी शान्ति है और यह बढ़ता रहेगा तो यह अनुपम आनन्द है। उत्कृष्ट पद है ऐसा साफ नजर आता है, और अज्ञानी जीव ये सब कितने बड़े भ्रम में पड़े हैं, संसार में रुलते हैं यह बराबर समझ में आता है। अब वहाँ अज्ञानी तो हठ कर सकता है, ज्ञानी से लड़ सकता है पर ज्ञानी पुरुष हठ क्या करे, लड़ाई क्या करे। अगर कुछ पात्र अज्ञान में समझे तो भी समझा जा सकता है। इसी कारण तत्त्वनिर्णय के प्रसंग में यदि कुछ ऐसी चढ़ाचढ़ी का वातावरण बनता है कि जिसमें रागद्वेष की सम्भावना है तो वह कहता है कि इससे मुझे विवाद नहीं करना है क्योंकि राग और द्वेष उत्पन्न होने का अवसर आ गया, इतनी निर्लेप अकल्प रहने की भावना ज्ञानी में होती है।

### श्लोक-310

ज्ञानहीने क्रिया पुंसि परं नारभते फलम्।  
तरोश्र्छायेव किं लभ्या फलश्रीर्नष्टदृष्टिभिः॥310॥

### श्लोक-311

ज्ञानं पङ्गौ क्रिया चान्धे निःश्रद्धे नार्थकृद्द्वयम्।  
ततो ज्ञानं क्रिया श्रद्धा त्रयं तत्पदकारणम्॥311॥

दर्शन, ज्ञान, चारित्र की विकलता में उदाहरणपूर्वक अलाभ का कथन— ज्ञानहीन पुरुष में कोई क्रिया हो तो वह फल को देने वाली नहीं होती है। जैसे जिसकी दृष्टि नष्ट हो गई अर्थात् अंध पुरुष है वह चलते-चलते किसी प्रकार वृक्ष की छाया में भी पहुँच जाय तो क्या वह उसके फल को पा सकता है? अर्थात् जैसे अंधे की क्रिया फल को प्राप्त करने में असमर्थ है ऐसे ही ज्ञानहीन की क्रिया मुक्तिरूपी फल को पाने में असमर्थ है। जैसे जब कोई अचानक वन में घिर जाता है जहाँ सूर्य का दर्शन ही नहीं है अर्थात् दिशामात्र का भी जहाँ ज्ञान नहीं हो सकता ऐसी दशा में क्या दिशा का भी पता पड़ सकता है? जैसे अंधेरी रात्रि में इतनी अंधेरी रात हो कि कुछ दिखता न हो तो अपने कमरे में बीच में पड़ा हुआ पुरुष दिशा का भी परिज्ञान नहीं कर सकता। भले ही अपनी खाट से इस करवट से उठकर रोज जाते थे, टो टा कर दरवाजा पा जाते थे, पर समझबूझकर दिशा का ज्ञान नहीं हो सकता कि यह दिशा है। कोई अपरिचित आदमी किसी हाल में

अंधेरी रात में लेट जाय तो बाहर जाने को चारों ओर हाथ से टटोलकर देखता है कि दरवाजा कहाँ है, ऐसे ही जिस भयानक वन में दिशा का पता नहीं पड़ता, जहाँ सूर्य वगैरह का कोई प्रकाश नहीं है। जितना चाहे चलता जाय पर दिशा का पता नहीं पड़ता, ऐसे ही यदि ज्ञान न हो तो यहाँ की सारी क्रियाओं में सफलता पाने की कोई गारन्टी तो नहीं हो सकती। यों ही समझो कि ज्ञानहीन पुरुष ही व्रत, तप, आदिक क्रियायें हों तो भी वह फल को नहीं प्राप्त कर सकता। हाँ इतनी बात है, कि जैसे अन्धा पुरुष चल चलकर वृक्ष की छाया में पहुँच जाय तो छाया का कुछ मौज और सुख पा लेगा, पर फल नहीं मिल सकते, इसी प्रकार ज्ञानहीन पुरुष, श्रद्धाहीन पुरुष किसी भी प्रकार मंदकषाय करके क्रियाओं से, तपश्चरण से स्वर्गादिक देवपद प्राप्त कर ले, भले ही वैषयिक सुख प्राप्त कर ले, लेकिन मुक्ति का जो अन्तिम फल है उसकी प्राप्ति नहीं हो सकती। इसी प्रकार जैसे अन्ध पुरुष फल को नहीं जानता तो उसके तोड़ने की क्रिया भी नहीं कर सकता। और, कोई लँगड़ा हो जो वृक्ष के फल को जानता तो है, देख लेता है पर एक पग भी जो नहीं चल सकता है, पैर जिसके टूट गए हैं वह भी फल को नहीं पा सकता, इसी तरह ज्ञान भी हो लेकिन आचरण नहीं है तो ज्ञान से भी मुक्ति के फल को प्राप्त नहीं कर सकता। उस ज्ञान की चर्चा चल रही है। जो केवल एक ऊपरी जानकारी मात्र है। श्रद्धासहित ज्ञान हो तो उसमें श्रद्धा ज्ञान और स्वयं का आचरण तो आ ही जाता है। फिर अब उसकी वृद्धि का प्रसंग आगे चलने लगता है। ऐसी बहुत सी जानकारियाँ होती हैं कि जानते हैं पर अपने आपमें बात घटित नहीं कर पाते भली प्रकार से। जैसे हम दसों बीसों को मरते तो देख चुके हैं पर अपने आपके बारे में वह नक्शा सामने नहीं बन पाता है कि मैं भी इसी तरह अचानक किसी दिन चला जाऊँगा, बातें भी कर लेंगे बातों में कसर नहीं रख सकते पर नक्शा नहीं खिंचता। तो ऐसी भी जानकारियाँ होती हैं कि अन्तर में घटित नहीं हैं और ज्ञानी बन रहे हैं। तो ऐसे ज्ञान से भी विवक्षित अभीष्ट की सिद्धि नहीं हो सकती। तो यों ज्ञानचारित्र में एक-एक को नष्ट करने वाले भी मिथ्यावादी हैं और उनके भी ध्यान की सिद्धि नहीं है।

## श्लोक-312

हतं ज्ञानं क्रियाशून्यं हता चाज्ञानिनः क्रिया।

धावन्नप्यन्धको नष्ट पश्यन्नपि च पङ्.गुकः॥३१२॥

**क्रियाशून्य व ज्ञानशून्य जनों की विडम्बना—** चारित्रशून्य ज्ञान नष्ट समझिये और ज्ञानशून्य पुरुष का चारित्र भी नष्ट समझिये। जैसे अंध पुरुष में चलने की देखने की शक्ति तो है पर किसी जंगल में आग लगी हो वहाँ कोई अंधा और लँगड़ा फँस गया हो तो अंधा उसमें दौड़कर नष्ट हो जाता है। कहाँ दौड़कर? किस ओर आग लगी हो उस ओर ही दौड़ बैठे। तो जैसे अंधा पुरुष दौड़कर ही नष्ट हो जाता है और लँगड़ा पुरुष

देखता हुआ भी नष्ट हो जाता है इसी प्रकार ज्ञानशून्य पुरुष अनेक क्रियायें करके भी मुक्ति फल को प्राप्त नहीं कर पाते हैं। और, चारित्रशून्य पुरुष ज्ञान होने पर भी मुक्तिरूपी फल को प्राप्त नहीं कर सकता है। जैसे लोग कहते हैं जान तो लिया पर करे नहीं तो उससे सिद्धि नहीं होती। जैसे कमेटियों में प्रस्ताव तो कर लिया और उसका अमल न करे तो उसका काम बनता है क्या? और कई बातें ऐसी होती हैं कि काम तो अधिक कर डाला पर प्रस्ताव या रजिस्टर में उसकी कार्यवाही न हो तो वह काम भी प्रशंसनीय नहीं माना जाता है। यदि वे जलते हुए जंगल में अंधे और लंगड़े परस्पर में मित्र बन जायें और अंधे के कंधे पर लँगड़ा बैठ जाय, लँगड़ा रास्ता बताता जाय और अंधा आगे बढ़ता जाय तो वे दोनों बच सकते हैं। अर्थात् वहाँ शान्ति और क्रियायें दोनों एक साथ हो गयीं। उस एक घटना में लंगड़े की तो दृष्टि है और अंधे का चलना है तो काम बन जाता है। यह तो है उनकी बात। अब दार्शनिकों की बात देखो— कोई दार्शनिक ऐसी घटना को देखकर और विवेक न करके यह मान ले, जैसे कहते हैं लंगड़े की दृष्टि अंधे में जोड़ दें अर्थात् वह अंधा खूब काम कर रहा है, इसमें देखना भी गर्भित हो गया, चलना भी गर्भित हो गया, लंगड़े की दृष्टि उस अंधे में लगा लें वह दार्शनिक भी भ्रम में है। इसी तरह यह जीव क्या करता है, चल तो रहा है यह शरीर और जान रहा है आत्मा। आत्मा की जानकारी को लोग शरीर में लगा बैठते हैं। लोगों से व्यवहार करते समय कुछ विवेक रखना, यह तो अचेतन हैं, जो इतना बड़ा खड़ा है, बैठा है, सामने है, यह सब जड़ है, जानने वाला तो इसका अन्तरात्मा है, उसी से मैं बात करता हूँ, कोई ऐसा सोचता भी है। जो दिखाई देता है, जो जड़ है, उसी को ही लोग जानकर समझकर बात करते हैं। कोई भाई आया, साहब यह बड़े विद्वान हैं, दृष्टि सबकी इस जड़ शरीर पर गई। न कहने वाला कोई, न सुनने वाला कोई, यह विवेक नहीं करते कि यह तो जड़ पौद्गलिक है। जानने वाला तो जीव है। तो जैसे कोई पुरुष उस अंधे और लंगड़े की घटना, लंगड़े, लंगड़े की दृष्टि उस अंधे में जोड़ दे, ऐसे ही ये दार्शनिक लोग जीव की दृष्टि को, जीव के ज्ञाननेत्र को इस जड़ शरीर में जोड़कर व्यवहार करते हैं। प्रकृत में बात यह कही गई है कि ज्ञानहीन क्रिया भी सफल नहीं और क्रियाहीन ज्ञान भी सफल नहीं। मनुष्यों की नकल बन्दर बहुत कर लेते हैं, और जैसा मनुष्य करे वैसा करते हैं पर उनकी सिद्धि कुछ नहीं होती। मनुष्य को वृक्ष पर खड़े हुए बन्दर यह देख लें कि इन्होंने जाड़ा कैसे मिटाया। चारों ओर घासफूस उठाकर जोड़ा मनुष्य ने, फिर उसमें लाल-लाल चीज छोड़ी और फिर बैठकर मुँह से फूँक लगाया और फिर हाथ पर हाथ धरकर तापने लगे। मनुष्य तो चले जायें, दूसरे दिन बन्दर भी ऐसा करने लगे, चारों ओर से घासफूस जोड़ लें और लाल चीज डालें, सो चारों ओर देखा कि लाल चीज है कहाँ, तो पटबीजना पकड़ पकड़कर उसमें धौंस दिया और चारों तरफ बैठकर मुँह से फूँक भी लगा दिया और हाथ पर हाथ धरकर तापने लगे, तो क्या जाड़ा मिट जायगा? वे ज्ञानहीन क्रियायें है बन्दरों की। और क्रियाहीन ज्ञान से भी सफलता नहीं मिल सकती। जो बड़े लेक्चरार होते हैं व्याख्यान देने वाले जहाँ हजारों लाखों की भीड़ जुड़ती है, नेता कहलाते हैं। नेताओं का धन है बोलचाल। वे करेंगे क्या? कोई खेती का

अभियान करना हो त हलकी मूठ पकड़ लिया और खिंचवा लिया, सड़क बनाने का अभियान करना हो तो मजदूरों के बीच में खड़े होकर फोटो खिंचवा लिया। तो ऐसे ही समझ लीजिए कि जहाँ बात ही बात है, बस वही ज्ञान है, पर जिसका आचरण कुछ नहीं है तो ज्ञानहीन आचरण आचरणहीन ज्ञान ये निष्फल हैं। कोई महापुरुष इतना भी करे तो भी वह आचरण में शामिल है, इस घटना में लेकिन किसी के मन में यह भावना ही नहीं है और केवल एक दिखावा की बात है, दिल की लगन नहीं है, ऐसा मनुष्य तो हल पकड़ने मात्र के काबिल नहीं, वह तो दो चार बीघा हल चलाये इसका पात्र है। और, वह केवल बनावट करे तो प्रभाव तो नहीं पड़ता जनता पर एक नैसर्गिक, इसी से तो वह सफल नहीं होता। इसी प्रकार ज्ञान और श्रद्धा इनमें से केवल कोई एक हो, एक न हो तो उससे भी सिद्धि नहीं है, किन्तु जो केवल ज्ञान से अथवा श्रद्धा से अथवा आचरण से मुक्ति माने तो वह मिथ्यावाद है। ध्यान के इस प्रकरण में कुछ मिथ्यावादों का इसलिए वर्णन किया गया है कि जब तक ज्ञान विशुद्ध नहीं होता तब तक भीतर की उलझन खतम नहीं होती। कोई पुरुष कुछ भी जानकर मानता रहे कि मैं सही जानता हूँ, कोई पुरुष तो ऐसे उद्वण्ड होते कि समझते हुए भी कि गलत मार्ग है, गलत सिद्धान्त है, फिर भी इज्जत रखने के लिए या अन्य अनेक कारणों से उसका पोषण करते हैं, वे तो ध्यानसिद्धि के पात्र हैं ही नहीं, किन्तु जो जानबूझकर कुपथ पर नहीं हैं, खोटा ज्ञान जानबूझकर नहीं कर रहे हैं, अपनी जान में वे सही जानते हैं, इतने पर भी चूँकि ज्ञान वह सही नहीं है, यथार्थ नहीं है तो भीतर की उलझन नहीं जाती, और उत्तम ध्यान की सिद्धि नहीं होती। इस कारण मिथ्यावादों का कष्ट और समझा गया।

### श्लोक-313

कारकादिक्रमो लोके व्यवहारश्च जायते।

न पक्षेऽन्विष्यमाणोऽपि सर्वथैकान्तवादिनाम्॥313॥

एकान्त पक्ष में कारकादिक्रम एवं व्यवहार की भी असिद्धि— सर्वथा एकान्तवादियों के सिद्धान्त में कर्ता कर्म करण आदि का क्रम नहीं बन सकता है और तब फिर लोक में व्यवहार भी नहीं बन सकता है। इसको यों समझ लीजिए कि जैसे कोई जीव को सर्वथा अनित्य ही माने तो सर्वथा अनित्य का ही अर्थ यह है कि उसमें कोई अवस्था नहीं बनी क्योंकि सर्वथा बने तो सर्वथा अनित्य कहाँ रहा? वह तो मिटेगा। जहाँ कोई अवस्था ही नहीं बनती तो कर्ता कर्म कारण का कोई मतलब ही नहीं। फिर यह सारा व्यवहार कैसा? कोई अनित्य ही माने, क्षण-क्षण में नया-नया होता है, सर्वथा अनित्य मानने पर भी क्या किया इसने? और, किसे किया। और फल किसे मिला? मान लो करे भी तो, किया किसी ने, कर्म बाँधा किसी ने, फल भोगा किसी ने। क्योंकि क्षण-क्षण में नये-नये जीव बन रहे हैं। एक ही एक शरीर को मैं आत्मा नहीं हूँ ऐसा जिसका

सिद्धान्त है, दिन भर में लाखों करोड़ों भी नहीं, अरबों खरबों भी नहीं अनगिनत नये-नये जीव बन जाते हैं, तो किया किसी ने, फल पाया किसी ने, भोगा किसी ने। यह सब अव्यवस्था बन जायगी। तो सर्वथा एकान्तवाद में कर्ता कर्म आदिक का व्यवहार नहीं बन सकता है, और है यह सब। तो पदार्थ किसी एकान्तरूप नहीं है, उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक है, ऐसा मानने से अपने आपमें भी यह चेतना जगती है कि मैं सदा रहने वाला हूँ, स्वच्छन्द न होना चाहिए, क्योंकि इसमें उत्पादव्यय चलता रहता है। मैं सदा रहकर भी नई-नई अवस्थाओं में जाया करता हूँ, स्वच्छन्द हूँ तो खोटी अवस्थाएँ भोगनी पड़ेंगी। तब बंध और मोक्ष की अवस्था स्याद्वाद से ही बन सकती है सर्वथा एकान्तवाद में नहीं।

### श्लोक-314

इदं फलमिदं क्रिया करणमेतदेषः क्रमो। व्ययोऽयमनुषङ्गजं फलमिदं दशेयं मम।

इदं सुहृदयं द्विषन्निगतदेशकालाविमा- विति प्रतिवितर्कयन्प्रयतते बुधो नेतरः॥314॥

विवेकियों का ध्यान के विषय में फल, क्रिया, करण, देश, काल आदि का निर्णय— जो विद्वान हैं वे ऐसे विचार करते हुए यत्न करते रहते हैं कि यह तो क्रिया है, यह करण है, यह इसका फल है और यह इसका क्रम है, इसमें यह व्यय है, यह इसमें फल उत्पन्न हुआ, यह मित्र है, द्वेषी है, यह कार्य के योग्य देश है, यह क्रिया के योग्य काल है, यह सब विचार अनेकान्त की ही तो छाया है। जो सर्वथा एकान्त हठी हैं वे इन सब बातों का विचार नहीं करते। जैसे व्यवहार में जो हठ की प्रकृति के हैं वे कुछ भी योग्य अयोग्य हित अहित का विचार नहीं करते। जो दिमाग में भर गया बस वही एक धुन है। ऐसे ही जो सिद्धान्त के क्षेत्र में हठवादी हैं, जिस किसी भी एक पक्ष का हठ किया बस उसकी धुन में रहते हैं, दूसरे की बात का आदर भी नहीं करते। कहने में और करने में बहुत अन्तर है। करना कुछ नहीं, भीतर यथार्थज्ञान करना मानना यही करना है। इसमें भी अन्तर रह जाता है। अपने-अपने चित्त से ही पूछ लेना चाहिए कि हम दूसरे मनुष्यों के ज्ञान का, उनकी बुद्धि का, उनके स्वभाव का हम कितना आदर करते हैं, अन्तर में हम कुछ उनका भी महत्त्व जानते हैं, उनका भी कुछ सत्त्व समझते हैं, वे भी ज्ञानमय हैं, ज्ञानवान हैं ऐसा समझते हैं, ऐसा तर्क लीजिए। जिसके यह बुद्धि जगी है दूसरों के प्रति भी कि ये भी ज्ञानरूप हैं, ज्ञानमय हैं, महान है, जिसके ऐसी बात जगती है वह ही तो संत कहलाता है चाहे गृहस्थ हों अथवा यती। अन्यथा लोग मिलेंगे कि कुछ ज्ञान पा जाने पर उनके मन में यह बात समाई रहती है कि दुनिया में आधी अक्ल तो हमें मिली है और आधी है सारी दुनिया में। ऐसा भाव प्रायः रहता है। दूसरे मनुष्यों के अथवा दूसरे जीवों के स्वरूप की ओर

आकर्षण हो भीतर से कि ये सब ज्ञानस्वरूप हैं, सबमें प्रतिभा है, बुद्धि है, ज्ञान का ही इनके भी परिणमन है, ये भी समझदार हैं, विवेकी हैं ऐसी बात जगना और उनका कहना इस कोशिश के साथ सुनना कि इन्होंने दृष्टि क्या बनाया है और किस दृष्टि में रहकर यह सब इसका कथन चल रहा है, ऐसे दूसरों के रूप से बनकर बात सुनना यह है आदर की बात। और अपनी ही कहना, दूसरे की बात न सुनना, बीच-बीच में काट छांट की बात बोलते रहना, ऐसा हाफड़ दुपड़ जो प्रयत्न है, क्रिया है वह तो दूसरों के आदर की सूचक नहीं है। तो एकान्तवाद में हठवाद में न स्वहित है, वहाँ ध्यान की सिद्धि भी नहीं है, जैसे आपको किसी बड़े ऊँचे काम से लगन है तो क्या कभी आप मामूली बात में हठ किया करते हैं? कभी नहीं करते। जैसे एक बड़े काम के लिए आपकी धुन बनी है उस प्रसंग में आप छोटी मोटी बातों में उलझते नहीं हैं ऐसे ही जिनको आत्महित का महान कार्य पडा है वे पुरुष भी छोटी मोटी बातों में उलझते नहीं हैं, विवाद नहीं करते, हठवाद नहीं करते। प्रथम तो अनेकान्त में ऐसा बल है कि अनेक की बात को दृष्टि और व्यवस्था से युक्त बता दे फिर विवाद काहे का। कोई कदाचित् बिल्कुल ही विपरीत चलता हो उसके प्रति भी सम्यग्दृष्टि और ज्ञान की समता रहती है। एकान्तवाद में फल क्रम कुछ भी सिद्ध नहीं होता।

### श्लोक-315

यस्य प्रजा स्फुरत्युच्चैरनेकान्ते च्युतप्रभा।

ध्यानसिद्धिविनिश्चेया तस्यसाध्वी महात्मनः॥315॥

अनेकान्त में भ्रमहीन प्रज्ञ महात्माओं के ध्यान की सिद्धि— जिस पुरुष की बुद्धि एक अनेकान्त में स्फुरायमान हुई है, यथार्थस्वरूप को जानने का ही जिसके परिणमन और यत्न रहता है उस ही महात्मा को उत्तम ध्यान की सिद्धि हो सकती है। जब एकान्त कोई वस्तु ही नहीं तब ध्यान की सिद्धि कैसे हो? कितने पद हैं ज्ञान और ध्यान के? प्रथम तो जीव जिसका होनहार भला है स्थूलरूप से कर्तव्य और अकर्तव्य का निर्णय रखता है। प्रभुभक्ति करना, शास्त्र सुनना, गुरुसेवा करना, घर धन परिजन सबसे अपने को जुदा समझना, इससे और आगे बढ़कर उसका भेदविज्ञान चलता है, वस्तु के स्वरूप का अभ्यास करता है और निर्णय रखता है कि मैं देह से न्यारा हूँ, और फिर इस अपने आपके बारे में अनेकान्त से स्याद्वाद से अनेक पर्यायोंरूप अपना श्रद्धान बनाता है, अनन्तशक्ति वाला मैं हूँ, अनन्तपर्यायों सहित हूँ और काल की अपेक्षा अतीत और अनागत अनन्तानन्त पर्यायोंमय हूँ, फिर आगे जब बढ़ता है तो उन सब गुणों से, उन सब परिणमनों से एक स्वरूप के आधार में उन्हें गुँथता है। ये सब अनन्तगुण एक चैतन्यस्वभावमात्र हैं। ये सब विभिन्न पर्यायें एक परिणमनमात्र

हैं, फिर इसके पश्चात् गुण और पर्यायों का भी इसमें भेद न करके एकमात्र अभावदृष्टि में आता है, तब देखिये क्या प्रक्रिया हुई? अनेकान्त के द्वारा अपना उत्थान कर करके आखिर अन्त में ऐसे अनेकान्त में पहुँचा जहाँ विकल्प ही नहीं अभेद है, तब अनेकान्त के दो अर्थ बना लीजिए— अनेक धर्म वाले। अनेक हैं अन्त मायने धर्म जिसमें उसे कहते हैं। अनेकान्त। और, दूसरा ऊँचा अर्थ जहाँ फल मिला है उसका अर्थ लगा लीजिए, तो अनेकान्त के तीन हिस्सा करें— अन् एक और अन्त, न एक: इति अनेकः, एक न हो उसे कहते हैं अनेक जहाँ एक भी धर्म नहीं रहा उसे कहते हैं अनेकान्त। पहिले इसे अनेक धर्म देखें— पदार्थ नित्य हैं, अनित्य हैं, गुण हैं, पर्याय हैं। और जब स्वहित का अभ्यास इसने खूब दृढता से किया और निर्विकल्प सिद्धि में जब पहुँचा तो उसके उपयोग में नित्य अनित्य की तो बात कौन करे, गुणपर्याय भी विकल्प में नहीं हैं। जब एक भी धर्म जहाँ नहीं रहा ऐसे ध्यान पर इसकी सिद्धि उस अनेक धर्मात्मा ज्ञान के प्रयोग से ही हो पायी। तो जिसकी प्रज्ञा अनेकान्त में स्फुरित हुई है उसी महात्मा को ध्यान की सिद्धि होती है। यहाँ तक मिथ्यादृष्टि जीवों के ध्यान की योग्यता नहीं है यह वर्णन किया है। जो जीव प्रकट मिथ्यादृष्टि हैं, जिनशासन से बहिर्भूत हैं उनके ध्यान की सिद्धि नहीं है, ऐसे वर्णन के बाद अब यह वर्णन चलेगा कि जो जिन मत में मुनि हैं, अपना आचरण, अपना भेष, अपनी क्रिया सब जैनशासन में बतायी हुई आज्ञा के अनुसार करते हैं फिर भी अन्तरङ्ग में जिन आज्ञा के प्रतिकूल हैं, कोई तो बाहर भी प्रतिकूल हैं और कोई अन्तरङ्ग में प्रतिकूल हैं, उन्हें भी ध्यान की सिद्धि नहीं होती है अब यह प्रसंग चलेगा।

### श्लोक-316

ध्यानतन्त्रे निषिध्यन्ते नैते मिथ्यादृशः परम्।  
मुनयोऽपि जिनेशाज्ञाप्रत्यनीकाश्चलाशयाः॥316॥

**जिनाज्ञापराङ्मुख चलितचित्त साधुओं के भी ध्यान का अनधिकार—** इस ध्यान के प्रकरण में ध्याता पुरुष कैसा होता है, इस सम्बन्ध में वर्णन चल रहा है। कैसा ध्याता प्रशंसनीय है। पहिले ध्याता के लक्षण बताये— जो मुमुक्षु हो, संसार से विरक्त हो, शान्तचित्त हो, जिसका मन स्थिर हो, जितेन्द्रिय हो, धीरवीर हो, संयमी हो वही ध्याता प्रशंसनीय है। इसके अनन्तर बताया कि गृहाश्रम में ध्यान की सिद्धि नहीं हो सकती है उत्तमरूप से, इस कारण यह गृहाश्रम निन्द्य है, हेय है। इससे यह शिक्षा मिली है कि जो गृहस्थजन हैं वे घर में रहते हुए भी यह निर्णय रखें कि यह गृहवास त्याग ने के योग्य ही है, इसमें आत्मा का श्रेय नहीं है, ऐसी विचारधारा होने पर गृहाश्रम में रहना भी योग्यता से रहेगा, उत्कृष्ट लक्ष्य की दृष्टि से भी हममें विशुद्धि बढेगी। साधुजन जो गृह को त्याग चुके हैं उन्हें यह शिक्षा मिली है कि जिस गृह को त्यागा है उसका फिर से संकल्प न करना, यह गृहाश्रम निन्द्य है। इसके पश्चात् जो ऐसे दार्शनिक हैं, जिनका अभिप्राय मिथ्या है

उनसे भी ध्यान की सिद्धि नहीं हो सकती है। अब यह वर्णन कर रहे हैं कि जो अपने को जैन कहते हैं और जैनशास्त्रों के अनुसार बाह्यक्रियायें भी करते हैं किन्तु जिन-आज्ञा के प्रतिकूल हैं उनको भी ध्यान की सिद्धि नहीं होती। सिद्धान्त में केवलदृष्टियों से ही ध्यान की पात्रता का निषेध नहीं किया किन्तु जो जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा से प्रतिकूल हैं अर्थात् जिनका चित्त चलित है, जो जिनसाधु कहलाते हैं ऐसे जिन-आज्ञा प्रतिकूल साधुओं के भी ध्यान का निषेध किया गया है अर्थात् उनके भी ध्यान की सिद्धि नहीं होती। अन्तरङ्ग का काम अन्तः प्रकाश के अनुसार ही होता है। बाहर से क्या क्रिया कर रहे हैं, शरीर की, यद्यपि अन्तः भावों के अनुसार प्रायः देह की भी क्रियायें चलती है लेकिन यह नियम नहीं है, और वह भी किसी प्रयोजन से देह की क्रिया व्यवहारधर्मरूप प्रवर्ताई जा सकती है। जो साधु बाह्यपरिग्रह भी छोड़ चुके हैं, आरम्भरहित भी हैं, कायक्लेश आदिक अनेक तपश्चरणों में लगे रहते हैं फिर भी एक तो अन्तरङ्ग में जिनेन्द्रभक्ति की जो लक्ष्य कराने की आज्ञा है उनके प्रतिकूल हैं और जो साधु बाह्य में भी जिन आज्ञा के प्रतिकूल हैं बाहरी क्रियाओं में भी, उनके भी ध्यान की सिद्धि नहीं है। ध्यान का सम्बन्ध ज्ञान से है। और लगातार उस ज्ञान के बने रहने का ही नाम ध्यान है ना। तो उस ध्यान में सहायता संयम की है। तो ज्ञान और संयम इन दोनों के मेल में ध्यान की सिद्धि होती है।

### श्लोक-317

योग्यता न यतित्वेऽपि येषां ध्यातुमिह क्षणम्।  
अन्विष्य लिङ्गमेषां सूत्रसिद्धं निगद्यते॥317॥

ध्यान के अयोग्य यतियों के चिन्ह के वर्णन का आरम्भ— यती होने पर भी जिनके ध्यान करने की क्षणमात्र भी योग्यता नहीं है उनकी पहिचान जैसे कि शास्त्रों में कही गई है उसका वर्णन किया जायगा। यह ज्ञानभ्रष्ट, श्रद्धाभ्रष्ट, ध्यानभ्रष्ट साधुओं के चिन्हों का वर्णन करने का संकल्प अथवा अधिकार इस श्लोक में है। इसमें सूचना दी है कि अब हम आगे उन चिन्हों का वर्णन करेंगे कि यती हैं, साधु हैं, बाह्यपरिग्रह का त्याग कर चुके हैं, फिर भी क्या बात अन्तरङ्ग में ऐसे मिथ्या आशय की रह जाती है जिससे उन्हें ध्यान की पात्रता नहीं मिलती।

### श्लोक-318

यत्कर्मणि न तद्वाचि वाचि यत्तन्न चेतसि।  
यतेर्यस्य न किं ध्यानपदवीमधिरोहति॥318॥

मायाचारी प्राणी की ध्यानसिद्धि की अपात्रता— सबसे प्रथम ध्यान में विघ्न करने वाले भाव को मायाचार बताया है। मायाचार ध्यान में विघ्न करने वाला है। जिन यतियों के शरीर की क्रियायें तो और तरह की हैं। जो शरीर की क्रियायें हैं वे वचन में नहीं हैं, वचन में और कुछ है, और जो वचन में है वह चित्त में नहीं है ऐसा मायाचार रखने वाले यती क्या ध्यानपदवी को पा सकते हैं? धर्मसाधन में सबसे बड़ा भारी विघ्न हैं भीतर में तो मायाचार है— अनुभव करके देख लो। गृहस्थ हो अथवा यती हो— धर्मसाधन करने में जो मायाचार रखते हैं उन्हें ज्ञानध्यान धर्म की सिद्धि नहीं हो सकती। मन ही नहीं है धर्मसाधन में। शरीर की चेष्टा करें धर्मपालन की और मन में उस धर्मसाधन की लगन नहीं है। अपने आपका सहज स्वरूप क्या है, इसके अनुभव के बिना अन्तस्तत्त्व में लगना कैसे हो सकता है? ध्यान की सिद्धि मोक्षमार्ग की सिद्धि सबका प्रारम्भ सम्यक्त्व से है। मिथ्या आशय जब तक बना हुआ है तब तक न धर्मसाधन है, न ध्यानसिद्धि है, वह सब एक सांसारिक कृत्य है। जैसे लोग लोक में अपना बड़प्पन रखने के लिए धन संचय करते हैं, लोग समझें कि यह भी खासे आदमी हैं, केवल पेट पालने के लिए धन संचय किया जाता हो ऐसी बात समझ में नहीं आती। लोग तो आराम के साधन बढ़ाने के लिए अनावश्यक खर्च बढ़ा लेते हैं। यह भी तो लोक में यश लूटने के लिए किया जाता है। बड़े-बड़े आरम्भ किये जाते हैं एक लोक में यश लूटने के लिए। ऐसे ही समझ लीजिए कि जिनको अपने आत्मस्वभाव की पहिचान नहीं है, आत्मकल्याण की भावना नहीं है उनके धर्म के सम्बन्ध में भी किए जाने वाले काम लोक में अपना बड़प्पन जताने के लिए हो सकते हैं, पूजन करते हैं, बैठते हैं, तो अकेले में किसी प्रकार कर रहे हों और जहाँ दो चार आदमी दिख जायें, समूह जुड़ जाये वहाँ और तरह की प्रवृत्ति करने लगे। यह धैर्य का भंग किसने करा दिया? वह समता न रही, अपने धुन के अनुकूल समान कार्य भी न रहा, इससे हुई विषमता, इसके कारण हुआ मायाचार। कोई अपनी लौकिक सिद्धि के लिए, किसी धन लाभ के लिए, किसी सामाजिक धार्मिक कार्य को करना यह तो बहुत बड़ा पाप कार्य हुआ, कि दिखावे में लोगों को अपने को उदार धर्मात्मा बताया और भीतर में मायाचार ऐसे छिपा है, लोभ का रंग ऐसे चढ़ा है, कोई जान न जाय इस तरह की वृत्ति करें वह तो बहुत अधिक पाप है। ऐसे मिथ्या आशय वाले जीवों के ध्यान की सिद्धि नहीं हो सकती। साधुजनों में भी कुछ अंदाज करिये ऐसी ही बातें किन्हीं साधुओं को हो सकती हैं। जिनके हो सकती हैं उनके ध्यान की सिद्धि नहीं होती।

सरल सहज अन्तः स्वभाव के अनुरूप अपने को बनाने में ही शान्ति का लाभ— जीव-जीव तो सब एक समान हैं। जो कानून बंध का, मोक्ष का, ध्यान का, शान्ति का है वह सब जीवों पर एक सा लागू होता है। कहीं ऐसा नहीं है कि गृहत्याग करने पर अथवा दिगम्बर भेष धारण करने पर मोक्ष जाने का दूसरा उपाय हो जाता हो। मोक्ष तो एक ही प्रकार से मिलेगा, चाहे गृहस्थ हो चाहे साधु। भले ही आंशिक विशेष अंश में कुछ फर्क रहे किन्तु शैली में फर्क नहीं होता। जैसे दुःख पाने की शैली एक है, किसी परपदार्थ की दृष्टि करना,

पर के प्रति आकर्षण होना, ये सब दुःख के कारण हैं, चाहे गरीब हो, चाहे धनी, चाहे ज्ञानी, चाहे मूर्ख सबके दुःखी होने की शैली एक है, भले ही दुःखी होने के विषय नाना हो जायें, ऐसे ही आनन्द पाने की शैली, संसार में रूलने की शैली सबमें एक है। संसार में रूलने की शैली है मोह, राग-द्वेष, पर की ओर का लगाव किये जावो, यह संसार में जन्म मरण कराने की शैली है। ऐसा भाव किसी नग्न दिगम्बर के हो तो वह भी संसार में रूलने का काम करता है, किसी गृहस्थ के हो तो वह भी संसार में रूलने का ही काम करता है। तो मन में कुछ हो, वचन में कुछ हो और शरीर से चेष्टा कुछ करे, ऐसा मायाचार जिन यतियों में पाया जाय उन्हें भी ध्यान की पदवी प्राप्त नहीं होती। एक कथानक में बताया है कि किसी साधु ने चातुर्मास किया, वह साधु तो चातुर्मास समाप्त करके चला गया। दूसरा साधु आया। लोगों ने उसकी प्रशंसा कर दी, वाह— इस साधु ने तो 4 महीने का अनशन किया है। उन्होंने “हाँ” “ना” कुछ नहीं कहा, मन ही मन खुश हुए। सोचा कि ठीक है मुफ्त में प्रशंसा हो रही है। तो इस मायाचार से बताते हैं कि उस साधु को दुर्गति प्राप्त हुई। तो भीतर में जो एक मिथ्या आशय है, मायाचार है, संसार का लगाव है, बड़प्पन का आकर्षण है वे सब बातें चित्त में हों तो अन्तः शान्ति और ध्यान नहीं बन सकता है। इस कारण ऐसा विरक्त होना चाहिए, इतना निर्णय होना चाहिए कि जगत के ये सभी जीव जैसे हम रूलने वाले हैं। हमें किसी में क्या बड़प्पन छांटना। क्या कोई हमारा प्रभु है। हम अपना सुधार बिगाड़ करने में समर्थ हैं, अन्य कोई नहीं।

**मायाचाररहित स्वभावानुरूप आचरण करके दुर्लभ नररत्न का सदुपयोग करने की प्रेरणा—** भैया ! यह जीवन तो व्यतीत हो ही रहा है। ऐसे प्रमाद में ही यह जीवन व्यतीत हो गया तो ऐसा दुर्लभ मानव देह पाना बड़ा कठिन है। यदि इस उत्कृष्ट अवसर को खो दिया तो फिर मरकर न जाने कहाँ से कहाँ उत्पन्न हो जायेंगे। असंज्ञी हो गये, विकलत्रय हो गए, स्थावर हो गए, तो अब क्या ठिकाना रहा। इन सब बातों का निर्णय करके इतना साहस रखना चाहिए कि मुझे आत्मकल्याण के लिए अपने आपमें सही दृष्टि बनाना है, अपने आपमें ही गुप्त रहकर जो करतूत करना है उतना ही मेरे से रिश्ता है, अन्य बाहरी बातों से कुछ भी लाभ नहीं है। तो जो मायाचार रखते हैं ऐसे साधुजनों के भी ध्यान की सिद्धि नहीं हो सकती। देखिये धर्मसाधना के अवसर के लिए सर्वप्रथम मायाचार से दूर रहें। मायाचार से लाभ कुछ नहीं बल्कि हानियाँ ही सारी हैं। अपने जीवन को यदि सरल बना लें, जो बात चित्त में है वही बखानें, वही करे तो इसमें कौनसी विपदा आती है? कदाचित् विपदा भी आये फिर भी अपनी सरलता और सच्चाई को न त्यागे तो यह भी एक धर्मपालन है। तो धर्मपालन के लिए सर्वप्रथम हमारी दृष्टि इस बात पर होना चाहिए कि हम मायाचार का व्यवहार न रखें। रोज-रोज नये-नये मायाचार करते रहने के कारण वह विषय इतने ज्यादा हो गए हैं कि किस-किस बात को छुटायें। अनेक प्रकार की उलझनें उस मायाचार से बन जाती हैं। सरल पुरुष को कभी भी कोई उलझन नहीं होती है। तुम्हें तो चाहिए शान्ति ही ना। तो शान्ति पाने के लिए धर्म पालना होगा। धर्म जितना कर पाते हैं उतना ही सही। अधिक ज्ञान नहीं है तो न सही। जितना ज्ञान है उतने को ही अच्छे

उपयोग में लगायें। धर्मपालन के लिए तो सर्वप्रथम इस मायाचार को अपने से रोके। व्यवहार में भी किसी प्रकार का मायाचार न रखें। जब मायाचार अपने में न रहे तो समझिये कि अब हम धर्मपालन कर सकते हैं। ये सब बातें अपने को अपने आप ही करनी पड़ेगी। कोई दूसरा करने को न आ जायगा। जो करेगा वही आनन्द पायगा। मायाचाररहित अपनी प्रवृत्ति हो तो उससे ध्यान की पात्रता रह सकती है।

### श्लोक-319

सङ्गेनापि महत्त्वं ये मन्यन्ते स्वस्य लाघवम्।  
परेषां सङ्गवैकल्यात्ते स्वबुद्ध्यैव वञ्चिताः॥319॥

परिग्रह से अपना महत्त्व मानने वाले बुद्धिहीन साधुभेषियों की ध्यान की अपात्रता— जो साधु होकर भी साथ में परिग्रह रखते हैं और उस परिग्रह से अपना महत्त्व मानते हैं तथा अन्य कोई जो साधु परिग्रह नहीं रखता, स्वतंत्र एकाकी जहाँ चाहे स्वच्छन्द विहार करता है, सात्विकता से रहता है उसको जो मुनि छोटा समझें वे अपनी बुद्धि से ठगे हुए हैं, वे ध्यान के पात्र नहीं हो सकते। यह ऐब भी कितना कठिन है। और, जो बात दिखा रहे हैं, श्लोक में वह कल्पित नहीं है किन्तु यह साधुओं पर गुजरती है। जो साधु बहुत बड़ा आडम्बर अपने साथ में रखते हैं, उससे ही अपना महत्त्व मानते हैं, लोग समझें कि इनके साथ दो चार कार हैं, जहाँ जाते हैं वहाँ ही उनके लिए सिंहासन तैयार किया जाता है, जमीन पर बैठने का काम ही नहीं है। इस सब आडम्बर से जो साधु अपना महत्त्व माने और किसी आडम्बररहित लघु समझें तो वह साधु ध्यान का पात्र नहीं है प्रथम तो यह बात है कि उस साधु को उस आडम्बर की बड़ी चिन्ता रखनी पड़ती है। उस परिग्रह की चिन्ता के कारण ध्यान बन कैसे सकता है? एक तो यही महा अपराध है। जिन चीजों का त्याग किया उनमें ही लगाव बने तो यह तो एक बहुत बड़ा दोष है। दूसरे—साथ में जो आडम्बर है उसको देखकर अपना महत्त्व आंकना यह भी एक बहुत बड़ा दोष है तीसरा यह दोष है कि किसी आडम्बररहित साधु को देखकर, एकाकी साधारणवृत्ति से रहने वाले साधु को देखकर उसे लघु माने। तो ऐसे अपराध करने वाले साधु को ध्यान की सिद्धि नहीं होती। मुनि का महत्त्व, निर्ग्रन्थता का महत्त्व आडम्बर से नहीं है, इस बात को जब सही न समझने वाले वे स्वयं है तभी तो वे आडम्बर से अपना महत्त्व समझते हैं। साथ ही अनेक भक्त भी वैसे ही हो जाते हैं जो कि उनके बहुत बड़े आडम्बर को देखकर उनकी महत्ता आंकते हैं। उनका बहुत बड़ा संग है, चार कार हैं संग में। जहाँ जाते हैं वहाँ इनके लिए सिंहासन तैयार किया जाता है, इन सब बातों को देखकर बहुत से भक्त लोग भी उनकी महत्ता आंकते हैं। तो आडम्बर से अपनी महत्ता जो आँके उसे ध्यान की सिद्धि नहीं हो सकती है।

### श्लोक-320

सत्यसंयमधुरां धृत्वा तुच्छशीलैर्मदोद्धतैः।

त्यक्ताः यैःसा च्युतस्थैर्यैर्ध्यातुमीशं क्व तन्मनः॥320॥

**संयमच्युत अधीर साधुओं की अनधिकारिता—** अब तक माया-चार, संग इन दो दोषों को बताया है कि मायाचार में भी ध्यान की सिद्धि नहीं है और परिग्रह से अपनी महत्ता मानें ऐसे भी साधुओं को ध्यान की सिद्धि नहीं होती है, अब यह बतला रहे हैं कि जिन्होंने संयम धारण किया था किन्तु मद में उद्धत होकर कुछ प्रकृति बनाकर संयम का परित्याग कर दिया, जिनका धैर्य टूट गया है ऐसा साधुओं का भी मन क्या ध्यान करने में समर्थ है? इस प्रकरण में कितना स्पष्ट और सही विधिपूर्वक उन जैन साधुओं का वर्णन किया जा रहा है जो बाह्य में जैनव्रत ले करके अन्तरङ्ग में मिथ्या जानने वाले हैं इस कारण उनके ध्यान की सिद्धि नहीं होती। किसी भावुकता में या किसी समय में सद्बुद्धि से संयम धारणा कर ले किन्तु वह प्रेरणा जब कम हो गई और विषयकषायों की प्रेरणा प्रबल होने लगी अथवा उस सत्संयम के धारण करने के कारण लोगों के द्वारा, भक्तों के द्वारा जो महत्त्व मिला उस मद से उद्धत होकर जिन साधुओं ने सत्संयम का त्याग कर दिया, अब उनके वह धैर्य नहीं रहा, वह अन्तर्बल नहीं रहा, मन चंचल होने लगा? अन्तः लगाव से भी भ्रष्ट हो गए तो वे साधु ध्यान के पात्र नहीं हैं। इस प्रकार उन साधुओं का वर्णन चल रहा है जो बाह्य में जिनव्रत करके भी ध्यान के पात्र नहीं हो सकते। प्रथम तो बताया मायाचार, दूसरा बताया परिग्रह में महत्त्व मानना और तीसरा बताया संयम से भ्रष्ट साधु। इन तीन के ध्यान की सिद्धि नहीं होती। इस प्रकरण में गृहस्थजन भी यह शिक्षा लें कि हम भी मायाचार का त्याग करें, परिग्रह से वैराग्य रखें और यथाशक्ति संयम धारण करें और उनके निभाने की हम अपनी प्रवृत्ति करें।

### श्लोक-321

कीर्तिपूजाभिमानार्तैर्लोकयात्रानुरञ्जितैः।

बोधचक्षुर्विलुप्तं यैस्तेषां ध्याने न योग्यता॥321॥

**पूजाभिमानी लोकयात्रानुरागी साधुओं के ध्यानयोग्यता का अभाव—** इस प्रसंग में यह बताया जा रहा है कि जो जैन मत के भी साधु हैं किन्तु जिन आज्ञा के प्रतिकूल हैं उनके भी ध्यान की सिद्धि नहीं सकती। अभी यह बताया है, जो साधु मायाचारी हैं, जो परिग्रह और आडम्बर के रखने से अपना महत्त्व समझते हैं,

जो संयम धारण करके संयम का मंत्र करते हैं ऐसे साधुओं के ध्यानसिद्ध नहीं होता। अब श्लोक में बतला रहे हैं कि जो मुनि कीर्ति प्रक्रिया पूजा अभिमान के वश हैं, आसक्त हैं, पीड़ित हैं, दुःखी हैं तथा जो लौकिक यात्रा से प्रसन्न होते हैं, जिन्होंने अपने ज्ञाननेत्र को नष्ट कर दिया है ऐसे साधुओं को ध्यान की योग्यता नहीं है। कीर्ति, प्रतिष्ठा, पूजा, अभिमान ये तो प्रसिद्ध ही हैं, लोकयात्रा का अर्थ है मेरे पास बहुत लोग आयें जायें, मुझे मानें। इस भाव से जो अनुरंजित हैं ऐसे साधुओं के ध्यान की योग्यता नहीं है। कोई लोग ऐसे होते हैं कि उन्हें एकान्त में रहने में मन नहीं लगता, खूब भीड़भाड़ हो, लोग खूब आयें जायें, इस वातावरण से अपने को बड़ा प्रसन्न अनुभव करते हैं। ये सब बातें शास्त्रों में लिखी हैं तो केवल कल्पित ही नहीं हैं, घटित भी होती हैं। आज भी घटित हो रही हैं। जैसे परिग्रह आडम्बर बड़ी सवारियां, तख्त, मेज, कुर्सी, सिंहासन, बड़ी-बड़ी चीजें रखकर चलते हैं, साथ में तीन चार लारियाँ चलती हैं ऐसी बात का अनुभव करके अपने को महान मानने की बात मन में आती है। हम हैं समाज के बड़े साधु। देखो इतना बड़ा आडम्बर है, इतना बड़ा संघ है, तीन चार लारियाँ भी हैं, इतने लोग हैं, इतने अमुक हैं, परिग्रह रखने के कारण अपना महत्त्व मानते हैं तो उन साधुओं के ध्यान की सिद्धि नहीं है। तो ऐसे जो कीर्ति पूजा के वश हैं, जो लोगों के आने जाने से अपना महत्त्व अनुभव करते हैं उन्हें भी ध्यान की सिद्धि नहीं है। साधु परमेष्ठी हैं और जिनेश्वर के लघुनन्दन अर्थात् छोटे भाई कहे जाते हैं। जैसे कभी यह होड़ मच जाय कि अमुक साधु के पास मंत्रि भी आते, राष्ट्रपति भी आते, बड़े-बड़े मिनिस्टर भी आते, मेरे पास कोई नहीं आता, इन सारी बातों से साधुता का महत्त्व माप करने की बात जहाँ चित्त में आने लगती है वहाँ ध्यान की सिद्धि नहीं होती इन अभिप्रायों के कारण जिसने अपने ज्ञाननेत्र विलुप्त कर दिया है ऐसे साधुओं के भी ध्यान की योग्यता नहीं है।

## श्लोक-322

अन्तःकरणशुद्धयर्थमिथ्यात्वविषमुद्धतम्।  
निष्ठयूतंयैर्ननिःशेषं न तैस्तत्त्वं प्रमीयते॥322॥

मिथ्यात्वग्रस्त साधुओं की तत्त्वज्ञान के अभाव के कारण ध्यान की नितान्त अपात्रता— जिन साधुओं ने अपने अन्तःकरण की शुद्धि के लिए मिथ्यात्वरूपी विष का वमन न कर अपने मिथ्यात्व को नहीं तजा वे तत्त्वप्रमाणरूप से नहीं जान सकते, यथार्थस्वरूप नहीं समझ सकते। मिथ्यात्व का वमन होने पर एक अद्भुत समता प्रकट होती है। मेरा तेरा, इसकी बात रह गयी, मेरी बात नहीं रही, ऐसी बात का भी बहुत कठिन परिग्रह हुआ करता है। धन वैभव का परिग्रह तो प्रसिद्ध है पर बात का भी परिग्रह हुआ करता है। और, जो हठ है, अपनायत है वह भी मिथ्यात्व को, भ्रम को, पर्यायबुद्धि को प्रकट करती है। मेरी क्या बात है। मेरा जो सहजस्वरूप है, मेरा जैसा परिचय हो सकता है वह तो इन बातों को एक हेय बुद्धि से देखता है। ये सब

जगत की रचनाएँ हैं, संकल्प विकल्प विभाव हैं, ये क्या मेरे हैं, और मेरा संकल्प, मेरा मंतव्य, मेरी बात लोगों में रह गयी तो मैं रह गया। मैं ठीक हूँ यह बात केवल एक पर्यायबुद्धि में होती हैं। एक जगह जब समयसार में यह चर्चा चली कि मिथ्यादृष्टि जीव परपदार्थों को आपारूप मानते हैं, कर्म में हूँ, देह में हूँ, परपदार्थ में हूँ, धर्मद्रव्य में हूँ, अधर्म में हूँ, आकाशद्रव्य में हूँ, तो वहाँ एक जिज्ञासा उठी कि ऐसा तो कोई नहीं मान रहे कि धर्म द्रव्य में हूँ, अधर्मद्रव्य में हूँ, आकाशद्रव्य में हूँ। तो समाधान दिया कि धर्मादिक द्रव्यों के सम्बन्ध में चिन्तना और विकल्प जो उठते हैं उन चिन्ता और विकल्पों में आत्मबुद्धि हुई, उसको ही उपचार से यों कहा गया कि यह धर्मद्रव्य को भी अपनाता है, आकाशद्रव्य को भी अपनाता है। इन अमूर्त पदार्थों की चर्चा करते-करते भी एक दूसरे से मंतव्य न मिलने पर उस प्रसंग में जो बड़ी कहा सुनी हो जाती है, गालीगलौज तक भी हो जाता है वह अपनायत हुई कि नहीं हुई? उन अमूर्त पदार्थों को अपनाए नहीं तो उनके सम्बन्ध में जो विकल्प उठते हैं उन विकल्पों को भी अपनाना एक मिथ्यात्व का कार्य है। मिथ्यात्वरूपी विष ऐसा प्रबल है कि इसका लेशमात्र भी हृदय में रहे तो यथार्थ तत्त्व का ज्ञान और श्रद्धान वास्तविक नहीं हो पाता। तब ऐसी स्थिति में ध्यान की योग्यता कहाँ से हो? ध्याता कौन प्रशंसनीय है, किस ध्यान में सिद्धि हो सकती है? इस प्रकरण में पहिले तो गृहवासियों को ध्यान के अयोग्य बताया, फिर मिथ्यादर्शन, मिथ्यातप, मिथ्याआचरण करने वाले को ध्यान के अयोग्य बताया। कुछ जैन मत के साधु भी ऐसे आशय वाले होते हैं कि उन्हें भी ध्यान के अयोग्य कहा जा रहा है।

### श्लोक-323

दुःषमत्वादयं कालः कार्यसिद्धेर्न साधकम्।

इत्युक्त्वा स्वस्य चान्येषां कैश्चिद्ध्यानं निषिध्यते॥323॥

काल का बहाना करके अनेक साधुओं द्वारा ध्याननिषेध का प्रलाप— कोई-कोई साधु ऐसा कहते हैं कि यह पञ्चम काल है, कलयुग है, दुःख दुःखमा का समय है, इस काल में किसी के भी ध्यान की योग्यता नहीं है, ऐसा कहकर अपने भी ध्यान का निषेध करते हैं और दूसरे भी कोई ध्यान के योग्य नहीं हैं, इस प्रकार कहकर दूसरे का भी निषेध करते हैं, ऐसे आशय वालों के ध्यान की सिद्धि कहाँ से होगी? जो पहिले से ही मान बैठे कि इस काल में ध्यान नहीं होता तो उनके ध्यान होगा कहाँ से? यद्यपि यह बात है कि ऐसा-ऐसा उत्कृष्ट ध्यान न होगा जो एक शुक्लध्यानरूप है, जो मोक्ष का साक्षात् बीजभूत है, लेकिन धर्मध्यान का तो निषेध अब भी नहीं है, अब भी धर्मध्यान के बल से लौकान्तिक देव तक होने की योग्यता है। अब भी रत्नत्रय से शुद्ध होकर लौकान्तिक देवपने की प्राप्ति की जा सकती है, पर आशय विशुद्ध हो। यहाँ भी संवेग, निर्वेग,

आदिक सभी सम्भावनाओं में सद्वृत्ति हो, तपश्चरण हो, संयम हो तो ऐसे अद्भुत पदों की प्राप्ति यह जीव कर सकता है।

### श्लोक-324

संदिह्यते मतिस्तत्त्वे यस्य कामार्थलासा।

विप्रलब्धान्यसिद्धान्तैः स कथं ध्यातुमर्हति॥324॥

संदिग्ध लालची कुसिद्धान्तविमुग्ध पुरुषों की ध्यान की पात्रता— जिनकी बुद्धि संदेह को प्राप्त हुई है, यथा तथा एकान्तवाद के शास्त्रों से जिनकी बुद्धि ठगी गई है, जो काम और अर्थ में लुब्ध होकर वस्तु तत्त्वत्व के चिन्तन में संदेहरूप भाव बनाते हैं वे ध्यान करने के पात्र कैसे हो सकते हैं? लोकविजय एक बहुत बड़ा आन्तरिक तपश्चरण है। लोक के किसी भी समागम में अटक न करना, सचेतन अचेतन इन सब समागमों में किसी में आकर्षित न होना यह एक बहुत बड़ा आन्तरिक तपश्चरण है। यदि कोई शिवमार्ग में बहुत बड़ा रोड़ा है कोई तो एक यही विघ्न है लोकयात्रा से सन्तोष करना। यह विघ्न इतना विकटरूप रख लेता कि मोहादिक सभी ऐब फिर प्रकट होने लगते हैं। जिन्हें केवल आत्मकल्याण की ही धुन है, समस्त जगत से मैं अपरिचित हूँ, निराला हूँ इस बात का जिसके विशद अवगम है वह ही पुरुष लोकविजय कर सकता है, उपेक्षा करने का नाम है विजय। जैसे कहा जाय कि इन्द्रियविजय करो तो इन्द्रियविजय का यह अर्थ नहीं है कि नाक, आँख, कान वगैरा काट डालो, इन्द्रियविजय का अर्थ है कि इन द्रव्येन्द्रियों से और विषयभूत पदार्थों से और इन इन्द्रियों के द्वारा जो कुछ बोध होता है, विकल्प होते हैं उन विकल्पों से उपेक्षा करना सो इन्द्रियविजय है। इन इन्द्रियों से उपेक्षा करके आखिर कहीं तो लीन होना पड़ेगा ही, तो मैं ज्ञानमात्र हूँ, इन सबसे परे मैं केवल ज्ञानरूप हूँ ऐसा अपने को ज्ञानस्वरूप संचेतन करना इससे इन इन्द्रिय के विषयों के विकल्पों की अपेक्षा हो जाती है। तो जब तक परवस्तुवों से उपेक्षा न जगे, अपने आपके कल्याण की विशिष्ट धुन न बने तब तक यह अपने आत्मा में मोक्षमार्ग की बात को निभा नहीं सकता। इतना बड़ा साहस हो कि मैं लोक के लिए कुछ नहीं हूँ, मुझे वहाँ कोई नहीं जानते हैं, न मैं किसी के द्वारा परिचित हो रहा हूँ, और कोई मुझे जान जाय तो वह स्वयं ज्ञायकस्वरूप परिचय पा लेने से अविशेष बन जायगा। विशेषता, व्यक्तियाँ, विकल्प उनके चित्त में नहीं रह सकते। तो उनको अपना बड़प्पन जताना कैसे बन सकता है और जो लोग मुझे जानते नहीं हैं उनको अपना बड़प्पन जताने से फायदा क्या? यों किसी को भी अपना बड़प्पन जताने से कुछ शोभा नहीं है। ऐसा निर्णय करके ज्ञानी संत पुरुष, मोक्षमार्गी जन अपने आपको अविशेष रखा करते हैं। लोक में तो विशेष का महत्त्व है किन्तु अध्यात्मक्षेत्र में सामान्य का महत्त्व है। जो विशेषताओं से दूर रहकर अपने स्वभाव सामान्यरूप उपयोग बनायें, तो वहाँ ध्यान की सिद्धि होती है। जो लोग अन्य सिद्धान्तों से ठगे गए हैं

अर्थात् वस्तु का जैसा स्वरूप है उस स्वरूप से विपरीत मान्यताओं को सुनकर उस ही विपरीत धारणा वाले बनते हैं उनके भी ध्यान की सिद्धि नहीं होती है।

### श्लोक-325

निसर्गचपलं चेतो नास्तिकैर्विप्रतारितम्।

स्याद्यसय स कथं ध्यापरीक्षायां क्षमो भवेत्॥325॥

नास्तिक्यभाव से प्रतारित पुरुषों की ध्यानाक्षमता— एक तो यह मन स्वभाव से ही चंचल है और तिस पर कोई नास्तिक लोग जो धर्म को, जीव को व्रत तपश्चरण आदिक को, मोक्ष को न मानते हों, उनके वचनों से ठगाया गया हो उस मन की चंचलता का ठिकाना ही क्या? ऐसे मन वाले पुरुष ध्यान की सिद्धि के पात्र ही कहाँ हैं। नास्तिकता के वचन तत्काल बड़े मधुर लगते हैं, एक तो जीव का विषयों से वासित चित्स्वभाव से ही चल रहा है अनादि से जीव का। यह तो क्या, विषयों में उनका उपयोग वासित रहा, और फिर कोई ऐसी बात सुनाये— तपश्चरण के कष्ट से क्या लाभ है? सांसारिक आराम छोड़कर संयम आदिक धारण करना, यह तो एक दिमाग का फितूरसा है आदिक बातें बनायें और विषयों का बड़े साहित्यिक ढंग से वर्णन करें, रागभरी कथायें सुनायें, ऐसी बातों से जिनका मन ठगाया गया हो उनके तो चंचलता अत्यन्त अधिक है, उनकी भी ध्यान में प्रवृत्ति नहीं हो सकती। बहुत सीधा सा एक छंद है जो कि नास्तिकता से भरा हुआ है— ‘तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्न, नासौ, मुनिर्यस्य वचः न प्रमाणम्। धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गतः स पन्थाः।’ तर्क युक्तियाँ सब अप्रतिष्ठित हैं। सच को झूठ बना दें ऐसी भी युक्तियाँ हैं, झूठ को सच बना दें ऐसी भी युक्तियाँ हैं। तो उन युक्तियों के द्वारा कोई धर्म की बात खोज निकले तो निकल ही नहीं सकती। युक्तियों से क्या? यह तो चतुराई है। तो युक्तियों से भी धर्म में सिद्धि नहीं है। आगमों की बात— सबके शास्त्र न्यारे-न्यारे हैं, किसको सही कहें, किसको झूठ कहें, सब विरुद्ध बातें चलती हैं। ऐसा कोई मनुष्य साधुसंत नहीं है जिसका वचन प्रमाण कर लें। आज जिसकी बात सुनते हैं उसकी ही बात अच्छी लगती है, कल किसी अन्य की बात सुनेंगे तो यह ठीक लगेगी, तो ऐसा कोई साधु नहीं, मुनि नहीं जिसका वचन प्रमाणिक हो। और फिर धर्म की बात यों समझ लो गुफा में रखी है, वह केवल कहने की है। जैसे लोग कहते हैं कि हमने धर्म को तो ताख में रख दिया। यह नास्तिकवाद की बात कह रहे हैं। सुनने में कितने सुन्दर शब्द लगते हैं। और यह बात बहुत जल्दी चित्त में बैठ भी सकती है, तो ऐसी बात जो एक चारुवाक है मायने सुन्दर वचन हैं उन वचनों से जो ठगा गया ऐसा पुरुष ध्यान का पात्र नहीं है।

## श्लोक-326

कान्दर्पीप्रमुखाः पञ्च भावना रागरञ्जिताः।  
येषां हृदि पदं चक्रः क्व तेषां वस्तुनिश्चयः॥326॥

रागरञ्जित पुरुषों के वस्तुनिश्चय न होने से ध्यान का अनाधिकार— जिनका आशय निर्मल नहीं है उनके ध्यान की सिद्धि नहीं हो सकती। शुद्ध ज्ञान जगे तो उसमें कितना अद्भुत आनन्द है। उस ही आनन्द में यह सामर्थ्य है कि भव भवान्तर के कर्मों को निर्जरा कर दे। कहीं कष्ट से कर्म नहीं छूटते। आनन्द के अनुभव के द्वारा ही ये कर्म छूटा करते हैं। जो बाह्य में बड़े-बड़े तपश्चरण दिखते हैं उन तपश्चरणों में रहकर साधु अन्तरङ्ग में बहुत प्रसन्न है, आनन्दमय है, ऐसी प्रसन्नता और आनन्दाभूति के साथ ही कर्मों की निर्जरा होती है। ये सब शुद्ध आशय के प्रसाद हैं। जिनका मन अशुद्ध है, अर्थात् राग से रंजित है, खोटी-खोटी वासनाओं से भरा हुआ है उनको ध्यान की सिद्धि कहाँ से हो? ऐसा वातावरण मिलना, ऐसा अपने ज्ञान को लगा देना, ऐसा चित्त रमना जिसमें उत्तरोत्तर ज्ञान की भावना बढ़े और ज्ञानमय अनुभव करने के प्रसाद से जो आनन्द प्राप्त हुआ है उस ही आनन्द में बसे रहने की अभिलाषा बने अर्थात् अपने सहज स्वरूप के अनुभव के लिए अन्तः प्रेरणा रहा करे तो इस आन्तरिक शुभवृत्ति में ध्यान की पात्रता बन सकती है। यह बात साधुजन तो मुख्यतया कर ही सकते हैं, पर यथाशक्ति गृहवास में रहकर भी ज्ञानी गृहस्थ के द्वारा किसी दर्जे तक साध्य है। अब भी तो अनेक गृहस्थ ऐसे देखे जाते हैं जो अनेक अन्य गृहस्थों की अपेक्षा विशुद्ध पंथ पर है, परपदार्थों की उपेक्षा भी जिनके जगी हुई है, केवल एक शिवपंथ की भावना बनी रहती है। जिनकी भावना विशुद्ध है, आशय पवित्र है, केवल आत्महित की दृष्टि है, किसी पक्ष का व्यामोह नहीं है ऐसे पुरुषों के ध्यान की योग्यता बतायी गयी है। जो कांदर्पी, कैल्विषी आदि खोटी भावनाओं से कलुषित हैं, जिन भावनाओं का वर्णन आगे के श्लोक में किया जायगा, ऐसे कलुषित हृदय वालों के ध्यान की सिद्धि नहीं होती। इस प्रकरण को सुनकर कुछ शिक्षा यह लेना चाहिए कि हम मायाचार से दूर रहें और लोक में कुछ बड़प्पन दिखाने की वाञ्छा को नष्ट कर दें और विषयों से विरक्त होकर अपने चित्त को ज्ञान में रमाने का यत्न करें तो इसमें हमारा भविष्य उज्ज्वल होगा, हम मोक्ष के निकट पहुँचने के पात्र होंगे। कुछ न कुछ अपने हित के लिए ऐसा अन्तरङ्ग में अपना पुरुषार्थ करना ही चाहिए।

## श्लोक-327

कान्दर्पी किल्बिषी चैव भावना चाभियोगिकी।  
दानवी चापि सम्मोही त्याज्या पञ्चतयी च सा॥327॥

ध्यानेच्छु जनों द्वारा त्याज्य कान्दर्पीप्रमुख पञ्चकुभावनायें— 5 प्रकार की ये खोटी भावनाएँ हैं जिन भावनाओं में निवास करने वाले गृहत्यागी जनों का भी ज्ञान सही नहीं हो सकता और न उनके ध्यान की सिद्धि हो सकती, वे 5 भावनाएँ कौनसी हैं— एक कांदर्पी, दूसरी कैल्विषी, तीसरी अभियोगि, चौथी आसुरी और 5 वीं संमोहिनी। कांदर्पी भावना— काम सम्बंधी विकार की वृत्ति को चिन्तना को कहते हैं। इससे कामसम्बन्धी विचार चलते हैं और बढ़ते हैं, ऐसी मनोवृत्ति जिनके हो वे ध्यान के पात्र क्या— ज्ञान के भी पात्र नहीं हो पाते। दूसरी भावना है कैल्विषी, क्लेश करने वाली। किसी भी प्रकार के व्यवहार से क्लेश पहुँचे ऐसी मनोवृत्ति को कैल्विषी भावना कहते हैं। जैसे गृहत्याग तो कर दिया, अब मन में आकर ऐसा उद्वण्ड व्यवहार रखा जहाँ दूसरों को कष्ट पहुँचे दूसरों के प्रति लघुता का मनोभाव रखकर उन्हें संक्लेश करने वाले वचन बोलना ऐसी वृत्ति जहाँ है वह कैल्विषी है, तीसरी है अभियोगि की भावना, युद्ध भावना। यहाँ वहाँ युद्ध की बातों में अपनी दिलचस्पी रखें, उनके समाचार एक युद्धप्रियता के नाते से जानते रहें, ऐसी मनोवृत्ति अभियोगि की भावना कहलाती है। आसुरी भावना— आपस में लड़ाई झगड़ा करना कराना, चुगली करना, यहाँ वहाँ की भिड़ाकर लोगों में कलह मचवा देना, उसको ही जिसकी मनोवृत्ति पसंद करे उसके आसुरी भावना होती है। एक है संमोहिनी भावना। कुटुम्ब से मोह बना हुआ है कुटुम्ब की खबर रखना, गृहत्याग करके जिस किसी भी प्रकार से कुटुम्ब को सहायता पहुँचाने की भावना रखना यह सब कुटुम्बसंमोहिनी भावना है। इस भावना के रहने में ध्यान की सिद्धि कैसे हो सकती है, अतएव साधुजनों को तो इन खोटी वासनाओं से तो बिल्कुल ही दूर रहना चाहिए, और गृहस्थजनों को जिन्हें ध्यानप्रिय है वे इन 5 भावनाओं से बहुत कुछ दूर रहने का यत्न रखते हैं।

### श्लोक-328

मार्जाररसितप्रायं येषां वृत्तं भयाकरम्।  
तेषां स्वप्नेऽपि सद्ध्यानसिद्धिर्नैवोपजायते॥328॥

मार्जाररसितवृत्ति वाले प्राणियों के ध्यानसिद्धि की नितान्त असंभवता— जिनका चरित्र ऐसा लज्जा करने वाला है जो एक मार्जाररसित की तरह है उनको स्वप्न में भी ध्यान की सिद्धि नहीं हो सकती। मार्जाररसित की एक कहानी है। एक बिलाव ने चूहों को यह घोषणा कर दी कि मैंने अमुक तीर्थ में जाकर चूहों को मारने का परित्याग कर दिया है, और जरा यह बिलाव शान्त भी रहने लगा। तब चूहों को यह विश्वास होने लगा कि सचमुच यह बिलाव त्यागी है। तो चूहे खूब उसके पास आने जाने लगे, वह बिलाव क्रम-क्रम से उनको खाने

लगा। ऐसी एक मार्जाररसित की बात है। इसी तरह जो पुरुष पहिले तो साधु दीक्षा लेकर संयम महाव्रत अङ्गीकार करके लोगों को यह विश्वास उपजा दे कि हमने साधुता ग्रहण की है और फिर विश्वास उपजाकर संयम से, व्रत से भ्रष्ट हो जाय अथवा यथा तथा प्रवृत्ति करे तो वह भी एक लज्जा करने वाली प्रवृत्ति है। ऐसी लज्जाजनक वृत्ति जिनके रहा करती है उनके ध्यान की सिद्धि नहीं होती। कल्याण करने वाले पुरुषों में सर्वप्रथम यह गुण आना चाहिए कि वे मायाचार के भाव में सारे गुण कुछ उत्पन्न भी होते हों तो भी वे नष्ट हो जाते हैं। मायाचार भी कितनी व्यर्थ की चीज है? सभी पदार्थ जब स्वतंत्र हैं, अपने स्वरूप में हैं, मैं भी अपने स्वरूप में हूँ, बाहरी सब पदार्थ भी अपने आपके प्रदेशों में हैं। तो अब क्या करना? कौनसा प्रयोजन बाहर में हमारा है, ऐसा जिसके लिए मायाचार जैसे विडम्बना चित्त में बसायें। सम्यग्ज्ञान जगे बिना, सम्यक्त्व हुए बिना वास्तविक मायने में मायाचार शल्य निकल नहीं सकती। और, इसलिए चार कषायों में से माया को शल्य कहा है। यह इतनी गंदी अपवित्र कलुषित वृत्ति है कि जिसकी मलिनता का इससे और बड़ा प्रमाण क्या करें। तो पहिले मायाचार चित्त में न हो, सरल भाव हो। यद्यपि जमाना उल्टा है, जो मायाचार करके रहे वह समाज में ऊँचा नाम पाये हर एक तरह के लोग डरें, अवगुण जानते हुए भी अवगुण उसे न बता सकें, दुनिया यद्यपि उल्टी हो रही है पर कल्याणार्थी पुरुषों को इससे क्या मतलब? और, कभी धर्म की हानि हो रही हो तो स्पष्ट कर दें। तो मायाचार तो अकल्याणार्थी के लिए बहुत ही बाधक है, जब सरलता आये वही मन, वही वचन, वही काय तो धर्म की, ध्यान की, ज्ञान की, कल्याण की पात्रता जग सकती है।

### श्लोक-329

अनिरुद्धाक्षसन्ताना अजितोग्रपरीषहाः।

अत्यक्तचित्तचापल्या प्रस्खलन्त्यात्मनिश्चये॥329॥

**इन्द्रियविषयानुरागी चपलचित्त प्राणियों का ध्यानसिद्धि में अनाधिकार—** जिन मनुष्यों ने इन्द्रियविषयों की प्रवृत्ति को नहीं रोका, विषयासक्ति जिनकी बन गयी, उग्रपरिषह न हों जो जीत नहीं सकते, जिनके चित्त की चपलता दूर हुई नहीं वे शुद्ध आत्मा के निश्चय से च्युत हो जाते हैं। जब इन्द्रियाँ वश में नहीं हैं तो पद-पद पर आत्मा अपने स्वभाव से च्युत हो सकता है। या तो विषयों में चित्त बसा ले या आत्मा के शुद्ध स्वरूप में चित्त बसा ले, दो बातें बिल्कुल विरुद्ध हैं, एक उपयोग में दो बातें कहाँ समा सकती हैं? विषयों की वृत्ति और सहज स्वभाव का ध्यान ये दोनों बातें नहीं बन सकती। तो जो इन्द्रियविषयों को जीत नहीं सकते उनके ध्यान की सिद्धि नहीं होती, जो कठिन परिषहों को जीत नहीं सकते, वे परिषह आने पर उपद्रव आने पर अधीर हो जायेंगे। जहाँ व्याकुलता उत्पन्न हुई वहाँ ध्यान कैसे बनेगा? जिन मनुष्यों की चपलता चित्त से नहीं गई वे मनुष्य भी आत्मध्यान में सफल नहीं हो सकते। चित्त की चपलता का कारण भी किसी परद्रव्य का स्नेह है।

जिन लोगों के यह शंका है कि बहुत कोशिश करते हैं पर ध्यान जमता नहीं है, यहाँ वहाँ ध्यान दौड़ता है, क्या कारण है? कारण स्पष्ट है। किसी परद्रव्य के प्रति स्नेह है इसलिए चित्त चपल है। कदाचित् चित्त किसी दूसरे पदार्थ की ओर स्पष्ट भी न जाय और फिर भी चित्त चपल रहता है। उसमें भी कारण परद्रव्यों के स्नेह की वासना है। तो जिसने स्व पर भेद विज्ञान किया है और पर को पर समझकर निज की ही धुन में जिनका उपयोग चलता है उनके ही तो ध्यान की सिद्धि हो सकेगी। तो चित्त की चपलता दूर करने के लिए हमें वस्तु के स्वतंत्र स्वरूप की अर्थात् आत्मा के सहजस्वरूप की चर्चा में चिन्तना में अधिकतर रहना चाहिए।

### श्लोक-330

अनासादितनिर्वेदा अविद्याव्याधवञ्चिता।  
असंवर्द्धितसंवेगा न विदन्ति परं पदम्॥330॥

अविरक्त अज्ञानीजनों की परमपद की अपात्रता— जिनमें निर्वेद उत्पन्न नहीं हुआ, संसार, शरीर, भोगों से विरक्ति नहीं हुई है वे पुरुष भी आत्मा के इस निराकुल उत्कृष्ट पद को प्राप्त नहीं कर सकते। संसार का अर्थ है विभाव विकास, शरीर का अर्थ है देह और भोग का अर्थ है ये समस्त बाह्यपदार्थ। जिनकी इन तीन में रुचि है वे इन तीनों के साधनों का ही काम करेंगे। मोक्षमार्ग की साधना कहाँ से बन सकेगी? अपने रागद्वेषादिक विकारों की रुचि है अर्थात् अपने रागादिक भावों के कारण मौज माना करते हैं, हमें खूब मौज है, अपने वैभव परिजन के रागवश जिनकी ऐसी अनुभूति चलती है उनके ध्यान की कैसे सिद्धि हो? यह देह दुर्बल हो तो शोकमग्न हो जाते, देह बूढ़ा होने लगा तो शोकमग्न हो जाते, देह पुष्ट हुआ उसमें हर्ष मानते, केवल एक देह से ही अपना सब महत्त्व जो कूता करते हैं ऐसे देह दृष्टियों के भी ध्यान की सिद्धि कहाँ से हो? ये समस्त पौद्गलिक समागम वैभव भोग में शामिल हैं, क्योंकि इन्द्रियों के द्वारा भोगा जाता है, स्पर्श, रूप, रस, गंध और शब्द। ये सभी की सभी पुद्गल की पर्यायें हैं, और जो कुछ निकट हैं, दिखते हैं, वे सब पौद्गलिक ठाठ हैं। इन ठाठों की जिनके रुचि जगी है वे इन ठाठों से ही तो बाहरी विकल्प रखा करेंगे, उन्हें आत्मध्यान की सिद्धि कहाँ से हो? जिन्हें वैराग्य नहीं उत्पन्न हुआ, जो अज्ञानरूपी शिकारी से वंचित हैं अर्थात् जिन पर अज्ञान शिकारी का आक्रमण है, मिथ्यात्व की वासना से वासित हैं, जिनको मोक्ष और मोक्षमार्ग में अनुराग भी नहीं जगा उनके ध्यान की सिद्धि कैसे हो सकती है?

कैवल्य की रुचि बिना कैवल्यविकास की असंभवता— मैं केवल अपने स्वरूप हूँ, अन्य किसी रूप नहीं हूँ ऐसी कैवल्य की रुचि हुए बिना कैवल्य विकासरूप मोक्ष की धुन नहीं बन सकती। जिन्हें कैवल्य प्राप्त करना है उन्हें अभी से कैवल्य की श्रद्धा भी तो करना चाहिए। कैवल्य का अर्थ है प्योर, खालिस, मात्र सिर्फ। मैं, मैं

ही हूँ, मुझमें दूसरे पदार्थ का अस्तित्व, गुण जुड़ ही नहीं सकता, ऐसा अपने आपको अभेद्य, अछेद्य, अखण्ड, शाश्वत माने तो इस श्रद्धा के बल पर जो मेरा ध्यान बनेगा और उस ध्यान की धुन के कारण जो भी व्रत संयम की प्रवृत्ति होगी वह सब मोक्षमार्ग है और यह मुक्ति को प्राप्त कर लेगा। पर मोक्ष की नींव अपने आपके कैवल्य स्वरूप की श्रद्धा करना है। जैसे चावलों को जिनमें कूड़ा-करकट भी मिले हैं उन्हें कोई शोधता है तो वह तभी शोध सकता है जब उसे यह मालूम हो कि यह चावल है और ये कूड़ा-करकट आदि हैं। जब इतना विशिष्ट बोध हो कि चावल ये हैं, कूड़ा-करकट इत्यादि तो चावल के स्वरूप से बाहरी चीजें हैं तब ही वह उन चावलों को शोध सकता है। कोई साधारण देहाती पुरुष चाहे इन शब्दों में न कह सके मगर बोध ऐसा ही होता है जैसे सप्ततत्त्वों की चर्चा पशुपक्षी नहीं भी कर सकते, मगर आत्मस्वभाव का दर्शन जैसे पुरुषों को हो सकता है, जिनके सम्यक्त्व जगा है, तो चावल शोधने वालों के यह निर्णय है कि चावल तो चावल ही हैं तभी तो शोध लेते हैं, दूसरी चीजों को अलग कर देते हैं, ऐसे ही आत्मा के प्रति यह निर्णय हो कि मैं केवल ज्ञायकस्वरूप हूँ, अपने स्वरूपमात्र हूँ, भले ही साथ में बड़ा झमेला चला आया है और वर्तमान में भी है लेकिन सर्वप्रसंगों में यह मैं अपने स्वभावमात्र ही रहा आया, किसी पररूप नहीं हुआ, ऐसी कैवल्य की श्रद्धा हो तब ज्ञानरूपी दृष्टि से निरखकर ज्ञानमात्र रहने रूप अपने आपको समस्त परभावों से जुदा कर सकते हैं। तो जिसे अपने कैवल्यस्वरूप से अनुराग नहीं जगा, मोक्ष और मोक्षमार्ग में अनुराग नहीं हुआ। ऐसे पुरुष को भी ध्यान की सिद्धि नहीं हो सकती।

### श्लोक-331

न चेतः करुणाकान्तं न च विज्ञानवासितम्।  
विरतं च न भोगेभ्यो यस्य ध्यातुं न स क्षमः॥331॥

निष्करुण ज्ञानहीन असंयतजनों की ध्यान में अक्षमता— जिसका चित्त दया से भीगा हुआ नहीं है, जिसका चित्त वस्तुस्वरूप के ज्ञान विज्ञान से वासित नहीं है, जिसका चित्त पञ्चेन्द्रिय के विषयों से भोगों से विरक्त नहीं है वह भी ध्यान करने के लिए समर्थ नहीं हो सकता। जब अपने आपके पर्याय में विशेष अपनायत रहती है तब वह अपने आपकी इस पर्याय को रखने जैसा ही तो यत्न करेगा। उसे दूसरों के प्रति अनुकम्पा नहीं जग सकती। जिनका कुछ अपने आपकी पर्याय के प्रति आत्मीयता का ढीलापन होता है उनमें दूसरों के प्रति भी कुछ-कुछ दया जग सकती है। जैसे व्यवहार में जो खुदगर्जी में अधिक रहते हैं उनको दूसरे प्राणियों के प्रति दया नहीं होती। और, जिनके खुदगर्जी की वासना कम है उनको कुछ-कुछ दया होती है, और जिनमें खुदगर्जी रंच नहीं है उनके दया का विस्तार सब जीवों पर होता है, तो दया का भाव ज्ञानी और विवेकी के ही हो सकता है। जिनका दया से वासित चित्त नहीं है वे ध्यान करने के पात्र भी नहीं हैं।

केवल अपने लिए इन्द्रियविषयों के साधनों के जुटाते रहने का ही यत्न होगा, यह तो ध्यान का अतीत विरोधी परिणाम है। सप्ततत्त्व क्या है, आत्मा क्या है, वस्तु का स्वरूप कैसा, मैं कैसा हूँ, कब से हूँ, किस परिणाम में कैसा हुआ करता हूँ ये सब तथ्य जिनके चित्त में नहीं बसे हुए हैं उनके ध्यान की समर्थता नहीं होती। जिन्हें रसीले पदार्थ खाने की धुन बनी रहती है, सुगंधित वासनाओं में ही जिनका मन प्रसन्न रहा करता है उन पुरुषों के भी ध्यान की सिद्धि नहीं होती है। यह प्रकरण चल रहा है कि जैन मत के होकर भी अन्तरङ्ग में कौनसी कमी रहती है जिसके कारण वे भी ध्यान की सिद्धि के पात्र नहीं होते। यह क्रम से वर्णन चल रहा है। पहिले गृहवासियों को ध्यान का अपात्र कहा, फिर मिथ्या मानने वालों को ध्यान का अपात्र कहा और अब जैन मत के अनुसार साधुता का ग्रहण करने पर भी कौनसी भावनाएँ ऐसी रहा करती हैं जिनसे वे भी ध्यान के अपात्र रहते हैं, यह वर्णन चल रहा है।

### श्लोक-332

लोकानुरञ्जकेः पापैः कर्मभिर्गौरवं श्रिताः।  
अरञ्जितनिजस्वान्ता अक्षार्थगहने रताः॥332॥

### श्लोक-333

अनुद्धनमनः शल्या अकृताध्यात्मनिश्चयः।  
अभिन्नभावदुर्लेश्या निषिद्धा ध्यानसाधने॥333॥

**ध्यानसाधना के अपात्र प्राणियों का वर्णन—** जो साधु पुरुष किसी भावुकता में आकर पापकर्मों को करके भी अपना गौरव अनुभव करते हैं, जो पाप लोगों को अनुरञ्जित करने के लिए किए गए हैं वे ध्यान के पात्र नहीं कहे गए हैं। लोग खुश हों, प्रसन्न हों, वाह-वाह करें ऐसे प्रशंसा के परिणाम से अथवा प्रशंसा का ऐसा भाव रखना ही पाप है, ऐसे पापरूप कार्यों से जो गुरुता को प्राप्त हैं, अथवा कोई आरम्भ परिग्रह की भी बात कर ले इस दृष्टि से कि लोग अनुरञ्जित हो जायें तो ऐसे पापकार्यों में रहने वाले साधु ध्यान के पात्र नहीं हैं साधु तो अलिप्त और अपने आत्मा की साधना के उत्सुक रहा करते हैं। उनका चित्त अपने आत्मा में रंजित नहीं हुआ, अपने आपके उपयोग को अपने आपमें जो नहीं डुबाते, अपने आपमें अपने आपका जो निरीक्षण नहीं करते, अपने ज्ञानप्रकाश का अनुभव का अभ्यास नहीं करते ऐसे पुरुष ध्यान की सिद्धि नहीं प्राप्त करते। जो पुरुष इन्द्रिय के विषयों की गहनता में लीन हैं, जिन्होंने अपने मन के शल्य को दूर नहीं किया, जिन्होंने अपने चित्त से खोटी लेश्याओं को नहीं हटाया वे भले ही तपश्चरण की प्रवृत्ति करें, किन्तु अन्य व्यक्तियों के प्रति बदला लेने की भावना, नीचा दिखाने की भावना दूसरों से अपने आपको उत्कृष्ट मानने की भावना

आदिक ये चित्त में वासनाएँ चलती रहती हैं तो वे पुरुष भी ध्यान के पात्र नहीं होते। ध्यान में करना क्या है? रागद्वेष रहित केवल जानन जानन ही है, और ध्यान का रूप ही क्या है, विशुद्ध ज्ञाता द्रष्टा बना रहना, सो ध्यान है। तो ऐसे ध्यान का पात्र तभी हो सकता है कोई जब अपने आपके आत्मस्वरूप का निश्चय भी तो हो। जिन्होंने अध्यात्म का निश्चय नहीं किया उनमें ध्यानसिद्धि की योग्यता नहीं होती। सब प्रकरणों से हम अपने लिए यह शिक्षा लें कि हम सरल बनें, तत्त्व के स्वरूप का परिज्ञान करें, इन बाहरी भोगों से विषयों से चित्त को हटायें, अपने आपमें मग्न होने का यत्न करें, यही हमारे भविष्य सुधार की बात बनेगी। अन्य कोई भी पदार्थ मेरे लिए शरण न होगा।

### श्लोक-334

नर्मकौतुककौटिल्यपापसूत्रोपदेशकाः।  
अज्ञानज्वरशीर्णाङ्गा मोहनिद्रास्तचेतनाः॥334॥

### श्लोक-335

अनुद्यक्तास्तपः कर्तुं विषयाग्रासलालसाः।  
ससङ्गा शकिङ्गता भीता मन्येताऽपि दव वञ्चिताः॥335॥

### श्लोक-336

एते तृणीकृतस्वार्था मुक्तिश्री सङ्गनिस्पृहाः।  
प्रभवन्ति न सदध्यानमन्वेषितुमपि क्षणम्॥336॥

पापसूत्रोपदेशक मोहोन्मत्त जनों की ध्यानाक्षमता— जो पुरुष हास्य कौतूहल कुटिलता तथा पापसूत्रों के उपदेशक हैं अज्ञानरूपी ज्वर से जिनका आत्मा शीर्ण हो गया है, मोहरूपी निद्रा से जिनकी चेतना अस्त हो गयी है ऐसे पुरुष भी उत्तम ध्यान का अन्वेषण करने के लिए क्षणमात्र भी समर्थ नहीं हैं। कुछ शास्त्र लिखें अथवा उपदेशक करें, अत्यन्त हास्य भरे कौतूहल मायाचार से पूर्ण हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह पापों की वृत्तियों से सहित जिनमें उपदेश हैं ऐसे व्याख्यान करें तो जैसे चित्त का होता है वह उस ही प्रकार तो

बोलता है। तो जिसको चित्त में इतनी कलुषता है उसके ध्यान की सिद्धि नहीं होती। अज्ञानरूपी ज्वर से जिनका अंग शीर्ण हो गया है, आत्मा का अंग है आत्मा ही, भ्रमपूर्ण विज्ञान से जिनके आत्मा का शान्तिबल जीर्ण हो गया है, छिन्नभिन्न हो गया है ऐसे पुरुष भी ध्यान करने में समर्थ नहीं होते। किसका ध्यान करें? जिनके अज्ञानभाव बसा है वे ध्यान करेंगे बाहरीपदार्थों का, और, बाहरीपदार्थों पर किया हुआ उपयोग चूँकि वह पदार्थ पर है, भिन्न है, क्षणिक है और यह उपयोग भी पर में अनुरक्त है, क्षण-क्षण में चंचलता को रखने वाला है इस कारण उनका चित्त नहीं रह सकता। मोहरूपी निद्रा से जिनकी चेतना अस्त हो गई है अर्थात् चेतना नष्ट तो नहीं हुई किन्तु अस्त हुई है, चेतना कहाँ नष्ट हुई है। सूर्य अस्त हो गया इसका अर्थ यह नहीं है कि सूर्य नष्ट हो गया, तिरोभूत हो गया, अब देख नहीं सकते, अब प्रकाश और विकास में नहीं है, इसी तरह मोहनिद्रा के कारण यह चेतना अस्त हो जाती है, इसका प्रकटरूप नहीं रहता, विकास नहीं रहता, ऐसी जिसकी चेतना अस्त हो गई है वह पुरुष भी इस आत्मध्यान के करने में समर्थ नहीं है। इस जीव पर जो मोह छाया है यह सबसे बड़ी विपदा है, यही सबको प्रिय लगता है, यह हाल है मोहनिद्रा में सोये हुए जीवों का। जिस मोह से दुःखी होते हैं उसही मोह को सुखकारी मानते हैं, उसमें ही मौज माना करते हैं। फल यह होता है कि और भी मोहकृत दुःख बढ़ने लगता है। तो जो मोह से पीड़ित पुरुष हैं उनके उत्तम ध्यान की सिद्धि नहीं होती।

**मुक्ति, तत्त्व व तप के परिग्रहलालसा जनों की ध्यान की अपात्रता—** जो पुरुष तप करने में अनुद्यमी हैं, तप की ओर भाव ही नहीं जाता, तप में उद्यम करना ही नहीं चाहते। जो विषयों के भोगने में लालसा हैं, जैसे कहते हैं ना ग्रास कर देना, जो विषयों का आत्मसात करना चाहते हैं ऐसे पुरुष आत्मा का ध्यान कहाँ कर सकते हैं? जो संगपरिग्रहसहित हैं, भयों से भीत हैं ऐसे पुरुष तो मानो देव के द्वारा ठगाये गये हैं। उन पुरुषों को ध्यान की सिद्धि कहाँ से हो? इन पुरुषों ने आत्महित को तो तृण के समान समझा है और मुक्तिश्री के संग से निस्पृह हैं वे पुरुष आत्मध्यान कहाँ से करेंगे? ज्ञानीपुरुष सांसारिक सुखों को तृणवत मानते और मुक्तिश्री के संग में स्पृहा। वे सांसारिक सुखों से स्पृहा हैं तो ये अज्ञानी भी क्यों उनसे कम रहें, शब्द तो वे ही आ जायें, तो अज्ञानियों के आत्महित को तृणवत माना और मुक्तिश्री के संग से स्पृहा हो गए। शब्द तो वे ही रहे। शब्दों की बड़ी रक्षा की। जैसे दूसरे गुणस्थान का नाम है सासादन सम्यक्त्व। तो लोग ऐसा समझते हैं कि यह भी एक छोटा मोटा सम्यक्त्व है क्योंकि नाम है ना सासादन सम्यक्त्व। तीन तो सम्यक्त्व अच्छे हैं— औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक। लेकिन सासादन सम्यक्त्व का अर्थ है सम्यक्त्व की विराधना। कोई किसी की प्रशंसा करें— साहब इनका क्या कहना है, यह साहब निर्धन हैं। और, निर्धन में धन शब्द लगा है ना तो इसको सुनकर वह खुश हो जाय, ऐसे ही सासादन सम्यक्त्व भी है। तो ये अज्ञानीजन तो तृणवत मानते हैं, उस ओर दृष्टि ही नहीं है, कुछ उसका मूल्य ही नहीं है। ऐसे पवित्र जीवन को, ऐसे अमूल्य अवसर को विषयभोगों में यों ही बेहोश होकर खो रहे हैं वे पुरुष ध्यान के क्या पात्र हैं। जिनकी खोटी भावना

रहती है, अपने हित अहित का विचार नहीं होता वे पुरुष समीचीन ध्यान की खोज भी नहीं कर सकते। साफ और स्पष्ट बात यह है कि अपना यदि भला चाहते हैं तो मायाचार का तो परित्याग करें और ज्ञानस्वरूप की भावना में और उस ज्ञानस्वरूप की दृष्टि के निमित्त सदाचार में प्रयत्नशील यही एक कल्याण का मार्ग है और शेष तो सब जीवन खोना है। मान लिया कि यह मेरा पुत्र है, यह मेरा पिता है, यह मेरा वैभव है, ये लोग मेरे हैं, ये गैर हैं, हमारी इज्जत अच्छी है, ये सब मोह की नींद के स्वप्न हैं, क्या रहता है इनसे से कुछ। जैसे नींद में जो स्वप्न आते हैं उन स्वप्नों में जो कुछ दिखता है वह सही लगता है किन्तु जब आँखें खुल जाती हैं तब सच्चाई विदित होती है कि कुछ भी तो न था। सब निराधार बात केवल एक सोचनाभर है। कैसी विचित्र कल्पनाएँ हैं। कभी-कभी तो जगते हुए में भी ऐसी कल्पनाएँ बनती रहती हैं यह करना है, फिर यों बन जायेंगे, यह सब क्या है? सब स्वप्न की तरह है। जहाँ हित अहित का विचार नहीं, अपने आत्मकल्याण की भावना नहीं, बाहरी समागमों में ही जो लगने की बात चलती है वहाँ वह आत्मध्यान का पात्र नहीं है।

### श्लोक-337

पाराभिचारकर्माणि सातर्द्धिरसलम्पटैः।

यैः क्रियन्तेऽधर्मोहाद्वा हतं स्वजीवितम्॥337॥

लम्पट पापाभिचारी अधम जनों के जीवन की व्यर्थता व दुःखरूपता— जो पुरुष सातावेदनीय के उदय से उत्पन्न हुए सुख और अणिमामहिमा आदिक ऋद्धियों में धनसम्पदा आदिक वैभवों में और रसीले भोजन आदिक में लम्पटी हैं, मोह से पापभिचारकर्म करते हैं इनके लिए आचार्यदेव खेद सहित कह रहे हैं कि हाय इन्होंने अपना जीवन नाश किया, अपने को संसारसमुद्र में डुबो दिया, इस ओर दृष्टि नहीं जाती। और, कभी इस तरह का भाव जगे तो दूसरे पर दृष्टि जायगी, इसने अपना जीवन नष्ट किया अपने को संसार में डुबो दिया। अपने आपके प्रति ऐसी दृष्टि जगना बहुत कठिन बात है, जगे ऐसी दृष्टि फिर तो कल्याण सरल है। यहीं तक कठिन बात है। अपने आत्मस्वभाव का परिचय होना कितना सुगम है, जिससे सुगम अन्य कुछ घटना कही नहीं जा सकती। लोक में कितनी घटनाएँ होती हैं— व्यापार है, मकान है, दूकान है, देशसेवा के काम हैं, परस्पर की लड़ाई में युद्ध के और आविष्कारों से काम हैं ये सब घटनाएँ उतनी सरल नहीं है जितना सरल अपने स्वभाव का अनुभव कर लेना है, लेकिन जब इसकी दृष्टि नहीं जगती तो सारा काम कठिन है, और दृष्टि जगे तो सारा सरल है। जो पुरुष संसारसुख में लम्पटी हैं उनकी दृष्टि आत्महित के लिए नहीं बन सकती है, ध्यान कहाँ से हो? जिन्हें पुण्योदय से अणिमा महिमा आदिक ऋद्धियाँ प्राप्त हुई हैं, देव गति में उत्पन्न हो जाते हैं उन्हें ऐसी ऋद्धि प्राप्त हो जाती है कि अपने शरीर को छोटा, बड़ा, वजनदार बहुत से शरीर एक तरह के अथवा कहो ऐसा रूपक बना लें कि पहाड़ जैसा लगे। जैसी चाहे चीज बना डालें, वहाँ

भी पुण्य का सुयोग मिला है, और मनुष्यों में कुछ तपश्चरण के प्रताप से, मंदकषायों के प्रताप से जो-जो भी साधन हैं उससे ये ऋद्धियाँ मिलती हैं, जो इन ऋद्धियों के जो भी लम्पट हो जाते हैं वे आत्मध्यान का बिगाड़ कर लेते हैं, ध्यान के पात्र नहीं हैं। 11 अंग 9 पूर्व की साधना कर चुकने के बाद साधु जब दस पूर्व की साधना करता है उस प्रकरण में देवियाँ आकर प्रार्थना करती हैं— तुम साधु हो गए, हमें हुक्म दीजिए, हम आपकी दासी हैं उस समय अपने उपयोग का सम्हालना, यह एक उस समय का बड़ा पुरुषार्थ है जो सम्हाले सो तो पार हो गया, जो-जो न सम्हाले सो तो बह गया। तो इन ऋद्धियों को पाकर वैभव को पाकर धर्म का ख्याल होना कितना कठिन है, आप देख लीजिए— कुछ जानकार भी हैं, वैभवसम्पन्न भी हैं, उनमें कितने पुरुष धर्म की ओर रुचि रखते हैं। कितने ही लोग तो स्पष्ट कहते हैं कि धर्म का फल हमें मिल चुका है, धर्म की क्या जरूरत है? धर्म तो उन्हें करने का काम है जिनके कुछ है नहीं। तो यह भी एक कितनी विडम्बना है सम्पदा वैभव जिसमें लम्पट होकर सब सुधबुध खो देते हैं। ऐसे पुरुष क्या आत्मध्यान कर सकेंगे। जिनको पापाभिचार की प्रवृत्ति है, इन्द्रिय के विषय जिन्हें सुहावने लगते हैं, जिनके मन की दौड़ इन्द्रियविषयों में मन के विषयों में लगी रहती है उन पुरुषों के आत्मध्यान की पात्रता तो नहीं है और, आचार्यदेव उनके प्रति कहते हैं कि यह जीवन उन्होंने नष्ट कर दिया। यदि न मिलना मनुष्यभव तो वह ज्यादा अच्छा था। उसका नम्बर तो बना रहता त्रस की पर्याय में। एक नम्बर गंवा दिया, ऐसे जीवों ने अपने को संसारसमुद्र में डुबो दिया। वे पापाचार कौन-कौनसे हैं उनको अब चार श्लोकों में कह रहे हैं।

### श्लोक-338

वश्याकर्षणविद्वेषं मारणोज्जाटनं तथा।  
जलानलविषस्तम्भो रसकर्म रसायनम्॥338॥

### श्लोक-339

पुरक्षोभेन्द्रजालं च बलस्तम्भो जयाजयौ।  
विद्याछेदस्तथा वेधं ज्योतिर्जान चिकित्सितम्॥339॥

### श्लोक-340

यक्षिणीमन्त्रपातालसिद्धयः कालवञ्चना।  
पादुकाञ्जननिस्त्रिंशभृतयोगीन्द्रसाधनम्॥340॥

## श्लोक-341

इत्यादिविक्रियाकर्मतैरतिदुष्टचैष्टितैः।

आत्मानमपि न ज्ञातुं नष्टं लोकद्वयच्युतैः॥341॥

पापाभिचारों का वर्णन और पापाभिचारियों की ध्यानाक्षमता का निरूपण— जो आचरण पापाशयों से भरे हुए हैं, जिन आचरणों में रहकर आत्मा की सुध लेने की पात्रता भी न रहे ऐसे पापाभिचार अनेक हैं। वशीकरण— दूसरे को वश करने का संकल्प रखना और ऐसे ही मंत्र तंत्र साधनों की फिक्र रहना यही वशीकरण पापाभिचार है। भला पुरुष वश नहीं होता, उसे वश करने के लिए जो एक साधना की जाती है उसमें आशय कौनसा विशुद्ध रखा? आकर्षण— किसी को अपनी ओर खींचने का परिणाम बनाना, कोई खिंचे, आकर्षण रहे, उसकी बात नहीं कह रहे किन्तु खुद की ओर से ऐसा भाव रहना कि लोग मेरी ओर आकर्षित हों, यह कोई पवित्र आशय नहीं है। विद्वेषन— दूसरों से विद्वेष रखना, ईर्ष्या का परिणाम होना, यह पापाभिचार ही तो है। किसी को मारने का संकल्प करना, उपाय रचना, विद्या सिद्ध करना यह चूँकि मरण के अभिप्राय को लिए है अतएव पापाभिचार है। किसी को विक्षुब्ध करना, उच्चाटन करना, यह सब पापाभिचार है। जल, अग्नि और विष का स्तम्भन करना, उन्हें रोकना, बढ़ाना, अतिशय करना, किसी के विघात के लिए अथवा लोकचमत्कार के लिए इनका आश्चर्यजनक प्रयोग करना, रसरसायन वगैरह कामविकार बढ़े, ऐसे कुछ प्रयत्न बनाना यह सब पापाभिचार है। नगर में क्षोभ उत्पन्न करना यह भी पापाभिचार है किसी समय बताते हैं लोग एक बार सरहानपुर में एक पुरुष के पास गिलट की चवन्नी थी, वह चलती न थी, किसी जगह धोखा देकर वह चवन्नी सही पैसा में चला ली। मारे खुशी के वह यह कहता हुआ दौड़ा चल गयी, चल गयी। उस समय का वातावरण कुछ तनाव का था तो लोगों ने झट अपनी-अपनी दूकानें बन्द करना शुरू किया, एक हल्ला सा मच गया, लोग घरों में घुस गए। लोगों ने समझा कि लाठी चल गई। तो ऐसे वचनों के द्वारा नगर में क्षोभ उत्पन्न करना पापाभिचार है। इन्द्रजाल विद्या की साधना करना ये लोक चमत्कार के जितने काम हैं उनमें कौशल प्राप्त करना ये सब एक सांसारिक ही तो बातें हैं। सतावधानी की विद्या सीखने से यह परिणाम रहता है कि मैं लोगों को सावधानी की बात बताऊँ, और उसके लिए यत्न करते हैं तो भी यह उत्तम आशय नहीं है। एक सतावधानी का क्षयोपशम हो वह बात अलग है, और विद्या सीखना इस आशय से कि मैं लोगों को चमत्कार दिखाऊँ, यह आशय ठीक नहीं है हाँ ध्यान साधना के लिए जो अपना विचार केन्द्रित किया जाय और उसमें असावधानी बढ़ जाय वह बात दूसरी है। आशय जहाँ मोक्षमार्ग के लिए प्रयोजक है वह तो है उपादेय और जो एक सांसारिक महत्ता बढ़ाने के लिए है वह तो संसार की ही बात है। जीत हार का विधान बताना भी पापाभिचार ही तो है। अमुक जीत जाय, अमुक हार जाय, ऐसा विद्याछेदन का विधानसाधन—

पंडित जी साहब कोई जाप जप दीजिए कि हम जीत जायें। अरे हम जीत जायें ऐसा आशय बनाया तो इसका अर्थ हुआ कि दूसरा हार जाय। अरे दोनों सुखी रहें ऐसा मंत्र साध लो, सारा जगत सुखी रहे ऐसा मंत्र साध लो। किसी की जीत किसी की हार का मंत्र क्यों साधते? चाहे कैसा ही मामला हो— जीतना ही है— विद्या के छेदने का मंत्र साधन करना, जो विद्याभेदी पुरुष होते हैं, मंत्रवादी, अमुक ने यों किया, अमुक ने यों किया, उसने विद्या छेद दिया, उसने उससे भी ज्यादा करामात दिखाया। उसने उसकी करामात का काट कर दिया ऐसा करने वाले लोग जो साधना करते हैं वे दुनिया को अद्भुत चमत्कार दिखाने के लिए ही तो करते हैं। अपने हित की साधना के भाव से जो नमस्कार मंत्र की शुद्ध भावना रखे तो उसके यह प्रताप नियम से जगेगा कि दूसरे का मंत्र और विद्या सता न सकेगा। तो दूसरों को जो नमस्कार दिखाने के लिए मंत्रादिक साधता है वह पापाभिचार है, और उन प्रवृत्तियों में रहने वाले पुरुष ध्यान की क्या साधना करें? वे तो इस लोक से भी गये और परलोक से भी गए। अपने को ध्यानपात्र बनाने के लिए रत्नत्रय की शरण गहना चाहिए। सदाचार से अपना जीवन व्यतीत हो और लक्ष्यविशुद्धि हो।

**लोकचमत्कारसिद्धि के अभिलाषी जनों से भी ध्यानलाभ का अभाव—** जो लोग सांसारिक चमत्कारों की इच्छा से नाना प्रकार के मंत्राभ्यास करते हैं उनके ध्यान की सिद्धि नहीं होती। पातालसिद्धि का विधान, जमीन में कहाँ कैसा है, जल में खड़ाऊँ पहिनकर विहार करने की विद्या की साधना, आकाश में विहार करने की विद्या की साधना, मृत्यु को जीतने का मंत्र साधना, लोगों को न दिखें ऐसे अंजन की साधना, गड़े हुए धन को आँखों से देखने की साधना, भूतादिक की सिद्धि की साधना, इनमें ही जिनका चित्त है उनके ध्यान की सिद्धि नहीं है। कई बात यद्यपि तपस्या के प्रभाव से सिद्धि रूप में प्रकट होती हैं पर अभिलाषा की बात दूर जाने दो, ऋद्धि प्रकट होने पर भी उन्हें पता नहीं पड़ पाता कि मुझे ऋद्धि हुई है। ऐसी केवल अपने आत्महित की ओर जिनकी दृष्टि रहती है वे साधु ही ध्यान की सिद्धि कर सकते हैं, आदिक अनेक विक्रिया कर्मों के, अनेक मंत्र साधनों के लौकिक चमत्कारों के अथवा कोई हाथ की सफाई करके दुनिया को चमत्कार के खेल दिखाने की सिद्धि करते हैं उन्होंने तो आत्मज्ञान से भी हाथ धोया। ऐसे पुरुष को ध्यान की सिद्धि नहीं होती यह अधिकार चल रहा है— कैसा ध्याता प्रशंसनीय है? उसी सिलसिले में कैसे पुरुष के ध्यान नहीं बन सकता है? उसका वर्णन है।

### श्लोक-342

यत्तित्वं जीवनोपायं कुर्वन्तः किं न लज्जिताः।

मातुः पण्यमिवालम्ब्य यथा केचिद्गतघृणाः॥342॥

### श्लोक-343

निस्त्रपाः कर्म कुर्वन्ति यतित्वेप्यतिनिन्दितम्।  
ततो विराध्य सन्मार्गं विशन्ति नरकोदरे॥343॥

**सन्मार्गविराधक साधुओं की दुर्गतिपात्रता—** कोई साधुजन यतीपने को अपनी आजीविका का उपाय बताते हैं। कितने ही लोग इसी बात पर संतुष्ट हैं कि बड़े आराम से और बड़े आदर के साथ जीविका निर्वाह होता जा रहा है, इस ही बात में संतुष्ट होकर अपने जो व्रत, तप, आचरण हैं उनको करते रहते हैं। कहते हैं वे भी आत्मध्यान की सिद्धि के पात्र नहीं हैं। आत्मा के स्वभाव का पता हो तब तो ध्यान हो, जिन्हें इस स्वभाव का परिचय ही नहीं है, बाह्यसाधनों में ही जिनका चित्त है, उनमें ही सन्तुष्ट हैं। कहते हैं कि ऐसे साधुजन मुनिधर्म की जीविका का उपाय बनाते हुए लज्जित क्यों नहीं होते? जैसे कोई पुरुष अपनी माता को ही एक वेश्या बनाकर उससे धनोपार्जन करे, जैसे यह अतिनिन्द्य काम है ऐसे ही जो साधु होकर उस साधुत्व को जीवन का उपाय बनाये और उसके द्वारा धनोपार्जन करे, कुटुम्बपोषण करे वह अत्यन्त निर्लज्ज है। ऐसा पुरुष सन्मार्ग की विराधना करके नरक में प्रवेश करता है। साधुत्व तो आत्मसाधना का नाम है, और उपाय निर्ग्रन्थ निरारम्भ निष्परिग्रह हुए बिना नहीं हो सकता। इस कारण साधुत्व का जीवन निरारम्भ निष्परिग्रह होता है। कोई पुरुष बाहरी आरम्भ परिग्रहों को छोड़कर भीतर में आरम्भ और परिग्रह बना बनाकर संकल्प विकल्प से वासित होकर सन्तुष्ट रहे कि हमारा जीवन अच्छा निभ रहा है, जिन्दगी ठीक कट रही है, कोई तरह की चिन्ता नहीं, केवल उस साधुत्व को मूल में अंगीकार कर लेता है तो वह ध्याता नहीं हो सकता है।

### श्लोक-344

अविद्याश्रयणं युक्तं प्राग्गृहावस्थितैर्वरम्।  
मुक्त्यङ्गं लिङ्गमादाय न श्लाध्यं लोकदम्भनम्॥344॥

**जिनलिङ्ग धारण करके लोकदम्भन करने के अनाचार की निन्दा—** कहते हैं जो गृहस्थावस्था में हैं उनके तो इस प्राथमिक दशा में ऐसा अज्ञान का आश्रय करें युक्त भी कहा जा सकता है, किन्तु मुक्ति के अंगरूप साधुलिङ्ग को धारण करके फिर लोगों को ठगना यह गुण भी प्रशंसनीय नहीं है। जैसे कुछ लोग कहने लगते हैं कि साधुओं से साधुता नहीं पलती है या जैसे तैसे भी रहते हैं तो क्या हुआ, अपने से तो अच्छे हैं। गृहस्थजन तो बिल्कुल ही नीचे की ओर चले जा रहे हैं। वे साधु कम से कम इतना तो निभा रहे हैं कि नग्न

रहते हैं, ठंड गर्मी के परिपह सहते हैं। इसमें तो ठीक है लेकिन इस श्लोक में यह बताया गया है कि गृहस्थ यदि कुछ नहीं निभा पाते तो उनकी व्रती क्षेत्र की जिम्मेदारी तो नहीं है। कुछ ऐसा तो नियम नहीं है कि जो प्रतिमा धारण ले सो ही गृहस्थ है। कोई प्रतिमा धारण करते हैं, कोई नहीं धारण करते, यह उनकी मर्जी है लेकिन साधु तो एक परमेष्ठी है और उसे द्विज कहते हैं, उसका दूसरा जन्म माना गया है। जैसे इस जन्म के बाद अर्थात् मरण होने पर दूसरा जन्म मिले तो इस जन्म का कोई सम्बंध नहीं, कोई ममता नहीं, कोई रिश्ता नहीं। तो दूसरा जन्म मिलने पर पहिले जन्म का सम्बन्ध रिश्ता कुछ नहीं रहता, ऐसे ही साधु होने पर गृहस्थावस्था की जो बातें थी उनका सम्बन्ध नहीं रहता, उसे द्विज कहते हैं। वहाँ तो जो महाव्रत अंगीकार किया है, जो संयमधुरा धारण की है उसका तो निभाव शास्त्रोक्त होना चाहिए। यदि वह साधुलिङ्ग को ग्रहण करके लोकों को ठगता है अर्थात् अपना श्रद्धा, ज्ञान, आचरण नहीं निभा पाता, प्रमादग्रस्त रहता है, हमारा जीवन अच्छा निकल रहा है, आजीविका ठीक चल रही है ऐसा जो साधु विचार करते हैं और उस साधुत्व की आड़ में अनेक प्रकार के मंत्र तंत्रादिक करे, उनसे व्यापार आदिक की बातें बना-बनाकर जो लोक में दम्भ करते हैं वे प्रशंसनीय नहीं हैं, साधु का भेष धारण करके ऐसी क्रियायें करे कोई तो उनसे तो से गृहस्थजन अच्छे हैं, क्योंकि उनसे धर्म की निन्दा तो नहीं हुई। वे गृहस्थ साधु न हुए तो उनके उत्थान पर धर्म की अप्रभावना तो नहीं हैं बहुत से अनन्त जीव हैं, यह एक मनुष्य हो गया, जैनकुल में उत्पन्न हो गया, इतनी ही तो बात हुई। बहुत से जीव धर्म से असम्बद्ध हैं। यती का भेष धारण करके धर्म की निन्दा न करना चाहिए। जो पुरुष लोकदम्भ करते हैं उनके ध्यान की सिद्धि नहीं होती।

### श्लोक-345

मनुष्यत्वं समासाद्य यतित्वं च जगन्नुत्तमम्।  
हेयमेवाशुभं कार्यं विवेच्य स्वहितं बुधैः॥345॥

**मनुष्यत्व और यतित्व पाकर अशुभकार्यपरिहार की अनिवार्यता—** इस मनुष्यपने को पाकर और फिर जगतपूज्य मुनिदीक्षा को ग्रहण करके जो विद्वान् होते हैं, बुद्धिमान हैं उन्हें अशुभ कार्यों को अवश्य ही छोड़ना चाहिए। जरा इस लोक विस्तार पर दृष्टि देकर, कुछ ख्याल करें कि यह मनुष्य जन्म कितनी दुर्लभता से प्राप्त किया है? निगोद जीव जो आगम में बताये गए हैं उनकी तो अतीत दुर्दशा है। एक श्वांस में 18 बार जन्म मरण करें। एकेन्द्रिय जीव पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति पर ध्यान दो, उनकी कितनी दुर्दशायें लोग करते हैं। रबड़ में वायु भर दिया, आग पर पानी डाल दिया, पानी को जो चाहे गर्म कर दे, और अनेक प्रकार से यंत्र तंत्रों से छेद भेद कर दे, पृथ्वी को खोदें, वनस्पति को छेदें, अनेक प्रकार के कार्य होते हैं, इन कार्यों के करने वाले चूँकि समर्थ हैं और वे उस तरह का ज्ञान नहीं रखते सो विचार कर लो। एकेन्द्रिय से

निकलकर दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय हो गए, रसना और घ्राणइन्द्रिय प्राप्त हो गयी। तीनइन्द्रिय से चारइन्द्रिय, असंज्ञीपञ्चेन्द्रिय, संज्ञीपञ्चेन्द्रिय हो गए। पशु पक्षियों के हाल देखो। पशुओं को लोग किस तरह से जोतते हैं कौन उनके लिए निःस्वार्थ भोजनपान देता है, कभी किसी समय दे दिया, और मारपीटकर किस तरह जोते जाते हैं, जब बूढ़े हो गए, किसी काम के लायक सामर्थ्य नहीं रहा तो सीधे कसाईखाने के लिए बेच दिये जाते हैं। हम आपकी ही तरह के तो वे जीव हैं, यह हाल हो रहा है। उन पशुपक्षियों पर भी दृष्टि देकर अपना मनुष्यजन्म कितना दुर्लभ है सो विचार कर लो। किसी भी शुभ भवितव्य से मनुष्य हुए हैं और दुर्लभतर यतिपना भी प्राप्त कर लिया है तब उनका कर्तव्य है कि अशुभ कार्यों से बिल्कुल ही दूर रहें।

**इन्द्रियविषयानुराग से आत्मघात—** भैया ! इन्द्रियविजय बिना सारा जीवन विफल है— यों सारा कह लीजिए कि इन हतक इन्द्रियों ने जीव को यहाँ भी भरमा दिया। इस इन्द्रिय से जो ज्ञान होता है उसको ही हम सर्वस्व मानते हैं और उसमें ही हम सुख का अनुभव करते रहते हैं जैसे किसी निधिवान पुरुष को किसी बहकावे में लगा दिया और उसकी निधि लूट लिया ऐसे ही इन विकारभावों ने, इन्द्रियज्ञान ने इस जीव को विषयों की ओर लगा दिया तो उसकी जो अनन्त आनन्द की निधि है वह सब लूट गयी। कितने ही ठग ऐसा किया करते हैं कि किसी के पास रकम है और वह जा रहा है तो उसका ध्यान ऐसा बटा देते कि पीछे से किसी ने पैसे बिखेर दिया और कहा— तुम्हारे ये रुपये गिर गए हैं, वह जरा उठाने जाता है इतने में ही कोई ठग रकम लेकर चम्पत हो जाता है। तो जैसे कुछ भी बहकाकर दूसरे की निधि को लूट लेना यह ठगों का काम है, ऐसे ही इन्द्रियजन ज्ञान का काम है विषयों में लगा देना, और यह जीव आकुल व्याकुल होता रहता है। जिस समय ये इन्द्रिय सुख भोगे जाते हैं उस समय भी तो कोई निराकुलता नहीं है। शान्ति की मुद्रा रखकर कौन रसीला भोजन करता है। भीतर देख लो आकुलता तृष्णा रहती है। उस ओर दृष्टि है, आकर्षण है तो ये सब चीजें अध्यात्मदृष्टि से कायरता हैं। किसी भी इन्द्रियविषय को भोगते समय शान्ति मिलती हो तो बतावो? शान्ति मिलना और बात है, मौज मनाना और बात है। जहाँ पर की ओर आकर्षण है वहाँ शान्ति हो नहीं सकती। केवल खाने की बात नहीं, स्पर्श की बात, कामसेवन की बात, नासिका, इन्द्रिय से सूँघने की बात, इन सब बातों को भोगते समय क्षोभ बना रहता है। शान्तचित्त होकर कोई भी विषयसेवन नहीं किया जा सकता है जिन्हें विषय नहीं मिले उन्हें भी आकुलता है और जिन्हें विषय मिले हैं उनमें भी आकुलता नजर आती है। बस एक कल्पना का भेद है। आकुलता व्याकुलता दोनों में बराबर है जैसे जिसे धन नहीं मिला, दरिद्र है उसे भी व्याकुलता है और जिसे धन मिला है, व्यापार आदिक चलते हैं उसे भी व्याकुलता है। धनी पुरुष को जो कुछ मिला है वह उसे कम जंच रहा है और जितना भी मिल जाय वह कम जंचेगा। मिले हुए समागम को यह कम मानता है इसलिए व्याकुल है, और जो निर्धन है, जिसके पास कुछ भी नहीं है वह धन के पीछे व्याकुल रहा करता है। हाय हमारे पास नहीं है। तो जैसी आकुलता व्याकुलता किसी निर्धन को है वैसी ही आकुलता व्याकुलता धनिक पुरुषों को भी है। किसी धनिक पुरुष के निकट

बसकर देख लो। जैसे किसी पुरुष की शकल सूरत दूर से सुहावनी लगती है। जरा निकट जाकर देखो, नाक के कान के छेद देखो तो सारी पोल खुल जायगी। दूर से सब सुहावना लगता है। और, भी उसकी पोल खोलना है तो किसी जगह शरीर में जहाँ फोड़ा फुंसी फूट जाय, या भीतर से लहू निकलता हुआ दिख जाय, वहाँ इसका सही परिचय कर लो। ये खूब दूर से सुहावने लगते हैं। ऐसे ही ये धनिक पुरुष दूर से बड़े सुखी मौज में रहते हुए नजर आते हैं। इनके पास कार है, ठंडे गर्म मकान हैं, बड़े आराम के साधन इनके पास हैं, जहाँ कहीं भी जाते हैं वहीं इनका स्वागत होता है, यह तो साहब बड़े आनन्द में हैं, ऐसा दूर से दिखता है, पर उन पर क्या बीत रही है सो वे ही जानते हैं, चित्त में क्षोभ है, निराकुलता तो रंच भी नहीं है। तो इन विषयसाधनों में इन भोगों में रम करके अपना यह मनुष्यजन्म व्यर्थ खो देते हैं।

**अनाचार से हटकर सदाचार में आने का कर्तव्य—** भैया ! जैसे पहाड़ पर नदी का जो वेग नीचे गया सो गया, वह वापिस लौटकर ऊपर नहीं आता। इसी तरह जीवन का जो समय निकल गया सो निकल गया, वह वापिस लौटकर नहीं आता। जैसे अभी लगता है कि यह 40-50-60 वर्ष की आयु पता नहीं कैसे निकल गई, कुछ मालूम ही न पडा, ऐसे ही इस जीवन का जो भी शेष समय है वह भी निकल जायगा, कुछ भी पता न पड़ेगा। वह स्वयं शीघ्र ही निकट आने को है जबकि लोग यही कहेंगे कि इसे जल्दी से जल्दी घर से निकालकर मरघट में फैंको। अर्थात् मरण निकट आने को है। तब क्या करना चाहिए? रही सही स्थिति में जितना समय बचा है उसमें क्या करना चाहिए? कुछ अध्यात्मिक आचरण हो, मायाचार न रखें, सब जीवों में भी उनके जीवत्व का आदर करें जो श्रावक अवस्था में रहकर 6 कर्तव्य बताए गए हैं उन छहों कर्तव्यों का यथाशक्ति पालन करें। देवपूजा करें, अपने जो गुरुजन हैं उनकी उपासना करें, सेवा करें, स्वाध्याय करें, यथाशक्ति दान करें, अपनी शक्ति के अनुसार संयम का भी पालन करें। जैसा जब चाहे खाते पीते तो इतना समय गुजर गया— गोभी तथा बाजार की दही वगैरह अभक्ष्य चीजें खाया, पीने में जरा भी विवेक न किया, जो मन में आया सो खा लिया। इस तरह से जो इतना जीवन गुजर गया। अब अन्त में होगा क्या, यह शरीर शिथिल होगा, वृद्धावस्था आयगी, शरीर का जो धर्म है वह तो चलता ही रहता है। यदि उन गुजरे हुए समयों में अभक्ष्य भक्षण न किया होता, दया का पालन किया होता, दूसरों को न सताया होता, सही सीधे व्यवहार में रहे होते तो उससे आज घाटा क्या था, और दुराचार से चले आये हो तो उसमें नफा क्या मिल गया? बीता सो बीता, अब जो आगे का जीवन शेष है उसकी कुछ खबर रखनी चाहिए। हमारी प्रवृत्ति सही धार्मिक चले और, यह मोटा आचरण तो सबके होना ही चाहिए कि रात्रिभोजन न हो, और जो अभक्ष्य चीजें हैं— गोभी का फूल अथवा बाजार की सड़ी गली चीजें (दही, जलेबी, इत्यादि) ऐसी चीजों का पूर्ण त्याग होना चाहिए। यथाशक्ति शुद्ध भोजन का प्रयास रखें। शुद्ध भोजन करने वालों के चित्त में यह भाव रहता है कि कोई पात्र मिलें तो उन्हें आहार कराकर खायें, इस संकल्प में कितना पुण्यार्जन और विशुद्ध भाव बनता है। तो ये मोटे जो संयम हैं इनका पालन करें, इच्छाओं को न बढ़ायें। और जो आये हो उसमें ही

अपनी व्यवस्था बनायें, नई-नई इच्छायें न बनायें। सत्कार्यों को करें, अशुभ प्रवृत्तियों का परित्याग करें। इससे ही अपनी कुछ भलाई का सिलसिला रह सकता है, नहीं तो मनुष्यभव पाया और यों ही खोया तो यह बड़े खेद की बात होगी कि नहीं, जैसा कहा था कि जन्म लेकर संसार में भटकेगा।

### श्लोक-346

अहो विभ्रान्तचित्तानां पश्य पुंसांविचेष्टितम्।  
यत्प्रपञ्चैर्यतित्वेऽपि नीयते जन्म निष्फलम्॥346॥

**विभ्रान्तचित्त यतियों की चेष्टा की जन्मनिष्फलत्वकारिता—** जिसका चित्त भ्रान्त है, अपने आत्मा के स्वरूप का परिचय न होने से और ज्ञानानन्द के उत्सुकता की प्रकृति होने से पर की ओर जिसका ज्ञान और आनन्द के ढूँढ़ने की व्यग्रता है अतएव जिसका चित्त भ्रान्त हो गया है ऐसे पुरुष की चेष्टा तो देखिये कि कभी साधुपना अंगीकार करने पर भी पाखंडरूप प्रपंचों के द्वारा अपने इस नरजन्म को निष्फल कर देते हैं। जो बात जिस विधि से, जिस योग्यता से बनती है वह उस ही प्रकार होती है। ज्ञानानन्दस्वरूप का अनुभव हो तो प्रत्येक बात में ज्ञानमयता की झलक होने लगती है और जब अज्ञानभाव बना हुआ है तो अज्ञानमयभव ही बनते हैं। जब अपने लक्ष्य का पता ही नहीं है कि मुझे करना क्या है, मेरा साधन उपयोग है जो कुछ करता हूँ इस उपयोग द्वारा करता हूँ और उपयोगमात्र करता हूँ। तो मुझे उपयोगों के द्वारा किस तत्त्व का उपयोग करना है; इसका निर्णय, इसके लक्ष्य का पता ही नहीं है तो वह उसका उपयोग कैसे कर सकता है? इस लक्ष्य का परिचय पाने के लिए और इस पर उपयोग बनाये रहने के लिए दृष्टिरूप यत्न की आवश्यकता है और इसमें सहायक है मंदकषाय। तो जिस किसी भी उपाय से आत्मपरिचय होता है वह हुआ नहीं तो उनका चित्त भ्रान्त हो जाता है। संसारजाल से छुटकारा पा लेने का बहुत बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य है। जब तक संसार, शरीर और भोग से निर्विण्णता प्रकट नहीं होती, अपने आपके आत्महित की धुन नहीं बनती तब तक यह संसार संकट छूटने का उपाय नहीं बनता। इसके लिए महान उत्सर्ग करना होगा, त्याग मूर्छा का परित्याग, ममता का विनाश इतना बड़ा उत्सर्ग करने का जिसमें साहस है और अन्तःश्रद्धा का उत्सर्ग करता है वह ही पुरुष इस घोर संसारसमुद्र से तिर सकता है। किन्तु अज्ञान के कारण जिसका चित्त भ्रान्त है ऐसे पुरुष की चेष्टाएँ तो अनेक विडम्बनाओं रूप होती हैं। जो पाखण्ड प्रपंच करके अपना जन्म निष्फल कर रहे हैं ऐसे पुरुषों के ध्यान की सिद्धि नहीं होती।

## श्लोक-347

भुक्ताः श्रियः कामदुधास्ततः किम्, संतर्पिताः प्रणयिनः स्वधनैस्ततः किम्।

न्यस्तं पदं शिरसि विद्विषतां ततः किम्, कल्पं स्थितं तनुभृतां तनुभिस्ततः किम्॥347॥

**लौकिक लक्ष्मी के लाभ की व्यर्थता—** इस लोक में जीवों के समस्त भावों को पूर्ण करने वाली यदि लक्ष्मी प्राप्त हो गई और ये वैभव साधन सब कुछ भोगने में आ गए तो जरा विवेक करके तो सोचो— उससे क्या लाभ है? भोगों को भोगा, ऐसा यदि कहते हैं तो इस पर भी विचार करने से यही निर्णय मिलेगा कि हमने भोगों का क्या भोगा, हम भोगों से खुद भुग गए। भुगने का अर्थ है बरबाद होना, हानि में रहना। इस जीवन में जितने भी भोग भोगे गए हों उनमें से कुछ भी क्या अब हाथ है, साथ है। वे दिन निकल गए। उन दिनों में जो विकल्प बनाया उसने यह आत्मा निःशक्त हो गया। इन्द्रियज्ञान और इन्द्रियसुख के कारण इनके साधनों के खोजने में ही व्यग्रता बनी रही। कोई पूछे कि इस जीवन में तुमने क्या काम किया है, इस पर तो प्रकाश डालो। तो सीधा सा एक परिचय है कि हमें परपदार्थों से सुख होता है, इस भ्रम के कारण इन्द्रियज्ञान और इन्द्रियसुख के साधनों के खोजने की और संचय करने की व्यग्रता बनायी है। यह है इसका परिचय।

तो समस्त इच्छाओं को पूर्ण करने वाली लक्ष्मी प्राप्त हुई, अथवा भोगने में आया तो उससे लाभ क्या हुआ? अपने आपकी ओर देखकर उत्तर दे सकते हो, मेरा चित्त कितना बलिष्ठ हुआ, सुखी हुआ, मस्त हुआ। आज तो वैसे ही वीरान, बरबाद असहाय अनाथ जैसे बने हो। अब भी परपदार्थों से अपनी रक्षा की आशा रखते हो। दीन के दीन बने हुए हो तो उस लक्ष्मी के भोगने से क्या लाभ हुआ? कुछ थोड़ासा कोई यह ख्याल करे कि अजी नाम तो हो गया तो किनमें नाम हो गया? मोहियों में, मलिनों में, दुखियों में, अनाथों में नाम हो गया। इस अनाथ का अनाथों में नाम हो गया। जैसे कोई किसी की प्रशंसा करे— ये मूर्खों के बादशाह हैं तो बादशाह नाम सुनकर खुश हो जाय तो बस बात सही क्या निकली? वह निकली कि यह मूर्खों के बादशाह हैं ऐसे ही अनाथ में, मूर्खों में, दुखियों में ये अनाथ, ये मूर्ख, ये दुखिया कुछ नाम चाहने के लिए रात दिन वैभवसंचय का अनेक कारनामों का विकल्प कर रहे हैं, यह है इसका दूसरा परिचय। इन प्राणियों का सही और खासा परिचय बताया जा रहा है। जो लोग धन के कारण परिचय बनायें, साहब यह बहुत धनिक पुरुष हैं, इनके इतने मील हैं यह झूठा परिचय है। तो उस पुरुष में उस जीव में जो कुछ पाया जाता हो उसका परिचय दीजिए। बाहरी बातों का परिचय न दीजिए। मोह का परिचय, राग विकल्प का परिचय है। यह है सही परिचय संसार के प्राणियों का। कोई भी जान सके तो परिचय दो। जैसे कोई किसी की जगह का आदमी हो और उससे कहो कि इसे देखिये यह कैसा क्या है? तो अपरिचित भी जो कुछ बात बता दे वह है सही परिचय। इनके इतने मकान हैं यह तो वह नहीं बता सकता क्योंकि वह परिचय की चीज

ही नहीं है। मकान है ही नहीं, इसकी शकल सूरत, लम्बाई-चौड़ाई जो सामने का पिण्ड दिखता है उसका तो वह परिचय कर ही लेगा। यह तो हम आपको मालूम है कि यह इनका मकान है, इस मोहल्ले के हैं, इनके लड़के हैं, ऐसा घर है सो बकने लगते हैं। अपरिचित भी कह देवे, परिचय बता देवे, वह सही चीज है। धन वैभव कोई न बता सकेगा। जो आपके परिचय में होंगे वे ही बतावेंगे।

**कीर्ति अर्जन के श्रम की विडम्बना—** यहाँ संसारी प्राणियों का सही परिचय खोजा गया है। यह साहब और क्या कर रहे हैं, इन्होंने क्या किया, इसका परिचय देख लीजिए। विभ्रान्त बनकर केवल विरुद्ध आचरणों की विडम्बना ही इन संसारी प्राणियों ने की। आत्मा का सच्चा बोध, सच्चा विश्वास और उस ओर ही लगना इस ओर कुछ भी यत्न होता है तो वह तो मोक्षमार्ग की बात है इसके अतिरिक्त कुछ भी करो वह सब विडम्बना मात्र है, लोक के बड़े पुरुषों की बात सुनते हैं— राष्ट्रपति, मंत्री सभी देश विदेशों के उनके ठाठबाठ और उसी से लोग उनका बड़प्पन कूतते हैं और लोग उसी के लिए यत्न करते हैं, किन्तु है सब एक विडम्बना और मोहनीद का जैसा। आँखों की नींद का स्वप्न दो चार मिनट का होता है और यह मोह की नींद का स्वप्न 10-20 वर्ष का होता है, और मरने के बाद इतिहास में नाम आ गया तो समझ लीजिए दो चार सौ वर्ष का हुआ। लेकिन इस अनन्तकाल के सामने ये दो चार सौ वर्ष कुछ भी तो गिनती नहीं रखते हैं। स्वयंभूरणम समुद्र के जल की एक बूँद तो कुछ गिनती रखती है।

**अपने में गुप्त रहकर अपने गुप्त श्रेयोलाभ के कर्तव्य का स्मरण—** भैया ! अब लौकिक विकल्प छोड़कर कुछ आत्महित की ओर आवो, अपने आपमें गुप्त ही होकर क्योंकि गुप्त ही किया जाता है, खुलकर भी करे तो भी वह गुप्त ही रहता है। प्रकट तो होता ही नहीं है। कल्याण भी सबका अपने आपमें हैं। आत्महित कर लेने में ही विवेक हैं, बुद्धिमानी हैं। आप किसी की प्रवृत्ति देखकर अनुमान तो कुछ कर लेंगे, मगर सही कुछ नहीं बता सकते। वह तो सब उनकी जिम्मेदारी पर है। जैसे आप किसी के बारे में स्पष्ट प्रमाणिक ढंग से क्या यह बता सकते हैं कि यह पूर्ण नम्र पुरुष है, इसमें अभिमान का रंच भी नाम नहीं हैं। अनुमान से तो बता दोगे और करीब-करीब सही उत्तर आयगा, लेकिन प्रमाणिकरूप से कोई कह नहीं सकता, क्योंकि जैसी चालढाल में एक नम्र पुरुष रहता है। कोई अपने आपमें महत्त्व की आकांक्षा रखने वाला अर्थात् अभिमानसहित पुरुष भी वैसी ही नम्रता और मुद्रा से अभिमान को पुष्ट कर सकता है। अभिमान में यह बात तो है कि लोग मुझे महान समझें। किसी बच्चे को राजा बेटा कहकर जो चाहे काम करा लेते हैं लोग, वह अपने चित्त में यह अनुभव करता है कि मैं राजा बेटा हो गया हूँ। तो यों ही जैसे कहते हैं बोली में लखनऊ जैसी नजाकत। ऐसे नम्र शब्द और उन ही नम्र शब्दों में मद भरा हुआ है। कोई मुद्रा से बोलना, कुछ ढंग से बोलना और उससे ही अभिमान के आशय की पुष्टि भी खूब हो सकती है, तो किसी की ऊपरी चेष्टा देखकर आप अनुमान तो बना सकते हैं पर प्रमाणिक ढंग से नहीं कह सकते हैं कि यह कैसा है? तब तो यही सहारा है कि सबकी अपनी-अपनी करनी अपनी भरनी। जिसके चित्त में जैसा

होगा वैसा पायेगा। एक अभिमानकषाय की बात क्या? किसी भी कषाय को आप प्रमाणिक ढंग से नहीं कह सकते। कई क्रोध प्रकृति वाले लोग भी ऐसे होते हैं कि भीतर क्रोध में भुनते रहें और ऊपरी मुद्रा में वचन में बड़ी शान्ति की बात रखें। मुद्रा से व्यवहार से यह अनुमान तो किया जा सकता है कि यह बहुत शान्त पुरुष है, पर कुछ निर्णय नहीं है। क्रोध करने की ही यह विधि हो शायद तो, इस तरह भी अनेक क्रोध करते हैं। मायाचार तो कहते ही उसे हैं कि कुछ पता ही न चले भीतर के आशय का। उसमें तो कोई निर्णय ही क्या कर सकता है, क्या है इसके चित्त में। और, लोभकषाय की बात बड़े त्याग से, उदारता से, दान से अनेक बातों से तो यह जान जावोगे कि यह बड़ा निर्लोभी पुरुष है, पर लोभ का प्रसंग क्या केवल धन के छोड़ने से ही मिल जाता है? महत्त्व का लोभ, यश का लोभ, कीर्ति का लोभ अनेक चीजें होती हैं। यद्यपि धन का त्याग करना उदारता की ही बात हैं, लोभ के ही विनाश की बात है और निर्लोभ पुरुष की ऐसी वृत्ति हो सकती है, लोभी पुरुष दान नहीं कर सकता है। जो निर्लोभ होगा वही तो दान कर सकता है। पर कुछ निर्णय तो नहीं है कि इतना त्याग करने के बाद हम उसे निर्लोभ ही कह सकें। तब फिर सब बातें वहीं गुप्त ही गुप्त हैं। जिम्मेदारी सबकी अपने आप पर हैं। जो जैसा आशय रखेगा वह वैसा अपना फल भोगेगा, इस कारण कल्याणार्थी पुरुषों का यह कर्तव्य है कि वे अपने आपके शुद्ध आशय की सम्हाल रखें और इस आत्मतत्त्व की ओर दृष्टि बनायें, ज्ञान बनायें, आचरण करें, इसमें ही अपना श्रेय है।

### श्लोक-348

इत्थं न किञ्चिदपि साधनसाध्यमस्ति, स्वप्नेन्द्रजालसदृशं परमार्थशून्यम्।

तस्मादनन्तमजरं परमं विकाशि, तद् ब्रह्म वाञ्छत् जना यदि चेतनाऽस्ति॥348॥

परमार्थशून्य इन्द्रजाल की उपेक्षा करके ज्ञानानन्दमय निजतत्त्व उपासना करने का अनुरोध— इस जगत में धन, स्नेह, कीर्ति आदि से कुछ भी करने के योग्य नहीं है। अपने आपसे बाहर बाह्यपदार्थों में कुछ भी करने के योग्य नहीं है। जगत के कार्य सब इन्द्रजाल की तरह हैं। अथवा स्वप्न की तरह हैं, परमार्थशून्य हैं, जैसे कि इन्द्रजाल में होता कुछ नहीं, सिर्फ दिखता है। इसका नाम इन्द्रजाल क्यों रखा। जो ऐसी चीज हो कि जिसका आधार तो कुछ नहीं है और मालूम पड़ती है उसे लोग इन्द्रजाल कहते हैं उसका नाम इन्द्रजाल इसलिए रखा है कि इन्द्र के मायने है आत्मा और उसका जाल मायने एक मायारूप परिणमन। जैसे रागद्वेषादिक भाव या अनेक जन्म, अनेक योनियों में जन्म लेना। ये सब वास्तव में कुछ नहीं हैं और लगते से हैं। देखिये स्वप्न में भी जब कोई स्वप्न आता है मैं इस चीज को छू रहा हूँ, पकड़ रहा हूँ, वृक्ष पर चढ़ रहा हूँ तो खूब लगता है ना कि मैं वृक्ष को पकड़े हूँ। है क्या वहाँ? कुछ भी नहीं है। स्वप्न में दिखता है कि दीवाल पर या सीढ़ियों पर चढ़ रहे हैं पर है वहाँ कुछ भी नहीं, तो इसी तरह से एक दृष्टि से देखिये— मोह

की कल्पनाओं में सब कुछ ठीक जंच रहा है ना। मैं ही तो हूँ यह, ये अमुक हमारे रिश्तेदार ही तो हैं, अमुक हमारे परिजन ही तो हैं। ऐसा खूब डटकर लग रहा है पर हैं ये कुछ नहीं, यह कैसे मालूम हो? जिसकी मोहनींद टूट गई हो और परमार्थ आत्मस्वभाव का परिचय हुआ हो वह ही तो कह सकेगा कि यह सब मायाजाल है। तो यह सब इन्द्र का पूरा हुआ जाल है, आत्मा का बनाया हुआ जाल है, इसका नाम इन्द्रजाल है फिर इसकी तुलना में इन्द्रजाल में भी जो और इन्द्रजाल है। जैसे कुछ है नहीं— दिखा दे, मिस्मरेजम या नजरबन्दी या और बातें भी इन्द्रजाल इसी से कहलाती हैं। वास्तव में कुछ नहीं है और दिखा देते हैं। तो इस जगत में बाहरी पदार्थों में करने योग्य कुछ भी काम नहीं है। वे सब क्षणविनश्वर हैं और परपदार्थों से शून्य हैं, इस कारण आचार्य महाराज कहते हैं कि हे प्राणिजनों ! यदि तुममें चेतना है, बुद्धि है, सुध है तो परम उत्कृष्ट स्वरूप अपने ज्ञानानन्दस्वभाव की वाञ्छा करो।

**स्वभाव के अनुभव में आनन्द का विकास—** शाश्वत ज्ञानानन्दस्वभाव के अनुभव में ही आनन्द है। अन्यत्र कहीं आनन्द तो है ही नहीं। जो अपने ज्ञानानन्दस्वभाव से परिचित नहीं है, वह निधि जिनके उपयोगरूपी हाथ में नहीं आयी है वे सब गरीब हैं संसार में भटकने वाले हैं और भ्रम से कल्पनाएँ करते हैं। किसी के पुण्य का उदय है तो पुण्य का बड़ा घर बना लेता है और किसके पुण्य का कम प्रसाद है तो अपने पुण्य का छोटा घर बना लेता है। किन्तु हैं वे एक से गरीब। जिनका आत्मा के ज्ञानानन्दस्वभाव की सुध नहीं है वे सब गरीब है व आकुलता सहते रहते हैं। हे प्राणिजनों ! यदि कुछ भी तुम्हें अपनी दया है, अपनी सुध है, तो परम उत्कृष्ट प्रकाश रूप आत्मीय ज्ञानानन्दस्वरूप अपने अंतस्तत्त्व की इच्छा करो। बाहरी पदार्थों की इच्छा मत करो। श्रद्धा सही बना लो और ऐसा बहाना मत लो कि हमारी श्रद्धा में तो हमारा आत्मा ही शरण है। बाहर से उपेक्षा है, यहाँ तो गृहस्थी में रहते हैं तो सौ कर्तव्य निभाने पड़ते हैं ऐसी अन्तरङ्ग में बहानेबाजी न करें, ऐसा होता तो है, पर किसी के होता है और कोई बहाना करता है, दोनों ही बातें हैं। इसका पता कैसे पड़ेगा कि इसकी ज्ञानदृष्टि तो सच्ची जगी है और गृहस्थी में कर्मवश रहना पड़ रहा है ऐसा निर्णय कौन करे, अथवा यह केवल बहाना करके कह रहा है, ज्ञानदृष्टि कुछ नहीं जगी। लिखा है ग्रन्थों में कि 'चरित्रमोहवश लेश न संयम पै सुरनाथ जजे हैं।' चारित्रमोह के उदय में संयम नहीं होता है सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुष के। घर में रहता है वह, फिर भी देवेन्द्र भी उसका आदर करते हैं। तो इस लोभ से अपनी मुद्रा अपने वचन दुनिया में ऐसे बनाया कि हमको घर की कुछ फिकर नहीं है, कुछ भी मोह नहीं है। वह तो चारित्र मोहनीय के उदय से करना पड़ता है तो यह बहाना है या वास्तविकता है, इसका कौन निर्णय करे? स्वयं निर्णय करें या केवली भगवान करें। तो प्रभु न जाने उससे कुछ नुकसान नहीं है क्योंकि जो जानते हैं वे हमें कहने नहीं आते और जो कहने वाले हैं वे कुछ निर्णय नहीं जानते। तब फिर सारी जिम्मेदारी अपने आप पर है। जैसा कर लो सो भोग लो। जगत के इन बाह्यपदार्थों में रंच भी वाञ्छा मत करो। ये जगत के कार्य स्वप्न के समान हैं उस

ओर से उपेक्षा करें, अन्तर्दृष्टि करके सही मायने में अपने स्वभाव की आस्था बनावें। जो जन्म जरा मरणरहित है उस ज्ञानानन्दस्वरूप की भावना रखें।

लगन से अन्तस्तत्त्व की उपासना में लाभ—जैसे कामी पुरुष के हृदय में निरन्तर स्त्री या पुरुष बसा ही रहता है वैसे ही लगन के साथ हम अपने ज्ञानानन्दस्वरूप भगवान आत्मा को हृदय में बसाये रहें। जैसे कोई विषयाभिलाषी अपनी विभूति पर दीवाना हो जाता है ऐसे ही तुम अपने अन्तःगुप्त रहकर अपने अंतःचैतन्यस्वभाव में दीवाना बनो। यह बात सब अपनी-अपनी खुद जान सकते हैं। इतनी लगन बन सके तो वह ध्याता है, और प्रशंसनीय है। ध्याता के स्वरूप का यह अधिकार है। और अब यह पूर्ण हो रहा है, समाप्त हो रहा है, लोग तो समाप्त का अर्थ लगाते हैं खत्म हो जाना, पर खत्म हो जाना और पूर्ण हो जाना, इन दोनों का एक अर्थ है। किन्हीं-किन्हीं प्रसंगों में हमारी इच्छा पूर्ण हो गयी, इसका अर्थ क्या? हमारी इच्छा खत्म हो गयी। इसके सिवाय और कुछ बात हो तो बतावो। जैसे बोरे में गेहूँ भर-भरकर बोरा पूरा हो जाता है क्या इसी तरह आत्मा की इच्छा भर-भरकर इच्छा पूर्ण होती है? खूब सोच लीजिए। इच्छा खत्म होने के मायने हैं कि इच्छा पूरी हो गयी। अब समझ लीजिए। जैसे कहते हैं कि भगवान को सब कुछ मिल गया है, इसका अर्थ क्या है कि उनके कोई इच्छा ही नहीं है सो सब कुछ मिल गया। तो ऐसे ही यह अधिकार समाप्त हो रहा है इसका अर्थ अपने आपके चित्त में लगाना चाहिए कि इस अधिकार में जिस लक्ष्य का संकेत चला है वह इसमें पूर्ण हो जाय तब अधिकार की समाप्ति सही है।

### श्लोक-349

किं ते सन्ति न कोटिशोऽपि सुधियः स्फारैर्वचोभिः परम्, ये वार्ता प्रथयन्त्यमेयमहसां राशेः परमब्रह्माणः।  
तत्रानन्दसुधारसर्वाते पुननिमज्ज मुञ्चति ये, सन्तापं भवसंभवं त्रिचतुरास्ते सन्ति वा नात्र वा॥349॥

अन्तस्तत्त्व के रुचिया व रचिया विद्वान सन्तों की विरलता— लोक में बड़े-बड़े व्याख्यानों से जो अमर्याद प्रतापी परमात्मा की बात को फैलाते हैं ऐसे-ऐसे करोड़ों विद्वान क्या हैं नहीं? अवश्य हैं, परन्तु उस परमब्रह्मस्वरूप की मूर्ति में मग्न होकर जो संसार के संताप को नष्ट कर सकते हैं ऐसे पुरुष जगत में बिरले ही हैं। अथवा कह लीजिए कभी नहीं भी होते हैं किसी क्षेत्र में। ऐसा तो नहीं है कि कोई समय ऐसा हो कि इस लोक में कहीं भी मुनि न हों, श्रावक न हों, सम्यग्दृष्टि न हों, ऐसा एक भी समय नहीं है यहाँ नहीं तो और कहीं, पर इस लोक में सभी गुणस्थानवर्ती मिलेंगे। सिर्फ ऐसा हो सकता कि अयोगकेवली भगवान और श्रेणी के साधु ये किसी समय कहीं भी न हों यह तो सम्भव हो सकता है। 8वें, 9वें, 10वें, 11वें, 12वें 14वें गुणस्थान। ये गुणस्थान किसी समय न हों यह हो सकता है और साथ ही दूसरे और तीसरे गुणस्थान ये भी

किसी समय न हों यह हो सकता है, लेकिन मिथ्यादृष्टि सदैव मिलेंगे और चौथे गुणस्थान वाले, पंचम गुणस्थान वाले, छठे, सातवें, गुणस्थान वाले और 13वें गुणस्थान वाले सदैव मिलेंगे। एक समय का भी अभाव नहीं है। लेकिन जितने क्षेत्र में अपना परिचय है, दिमाग जाता है, सोचने की बुद्धि जगती है, उतने क्षेत्र में न भी हो कोई। जैसे कोई विद्यार्थी 9-10 महीने पढ़ता है, खूब पढ़े और परीक्षा के दिनों में गैरहाजिर रहे तो उसके पढ़ने से क्या लाभ? जो व्यक्ति परीक्षा से मुँह चुराते हैं वे ज्ञानार्जन का ध्येय नहीं रखते हैं। छात्रों में तो यह होता है कि पढ़ें और परीक्षा दें, पास हों आगे बढ़ें। ऐसे ही खूब ज्ञान करें, खूब व्याख्यान करें, खूब सुने, खूब स्वाध्याय करें और उसकी परीक्षा दें। वह परीक्षा क्या है? संसार, शरीर और भोगों से विरक्त होकर किसी क्षण अपने स्वभाव की दृष्टि में अपने को लगाना, यही है धार्मिक ज्ञान की परीक्षा। उससे मुँह चुराये, उसके लिए प्रमाद रखे, उसकी भावना ही न बनाये, सब खूब शास्त्र देखें रटें, किसी की भी शंका हो उसका समाधान करें, कोई कुछ भी पूछे उसका उत्तर दें इतना ही मात्र उद्देश्य रखें तो वह उसी छात्र की तरह है जो पढ़े और परीक्षा से मुँह चुराये। ज्ञानार्जन का फल तो अंतस्तत्त्व की दृष्टि बनाता है तो बड़े-बड़े व्याख्यानों के करने वाले अनेक विद्वान हैं, पर वे सच्चे विद्वान तभी हैं जब परमात्मस्वरूप में लीन हो जाने का यत्न करें।

**सरल सहज अन्तस्तत्त्व की उपासना का कर्तव्य—** भैया ! सहज परमात्मतत्त्व की उपासना बड़ा सरल काम है, दृष्टि विशुद्ध चाहिए, सरलता चाहिए। अपने आपके प्रभु से मिलना बहुत सुगम कार्य है। यह कार्य यदि कर लिया तो समझ लीजिए कि अनन्त भव बीत तो गए पर यह भव सफल हुआ समझिये। अब यहाँ प्रश्न यह होता है कि जब आत्महित करना इतना सुगम है तो फिर लोग इसकी सुगमता से कर क्यों नहीं लेते? जब सुगम होने की पात्रता होती है तब तो सुगम है और जब विषयकषायों में अंध रहता है, जब आसक्त रहता है, मोह करता है तब इसके लिए अति दुर्गम है। लेकिन विधि देखिये जिसे होना है उसे सुगम होता है कि नहीं? सहज होता, सुगम होता है। और सत्संग का लाभ भी यही है तो ज्ञानीजन हैं, गृहस्थ हों, यती हों उन सबका जो परस्पर का संग है, उठना बैठना है उसका लाभ तो यह है कि कोई किसी कषाय में बद्ध रहा हो, किसी कुपथ में जा रहा हों तो उसे चेताएँ। यहाँ आन्तरिक वृत्ति पर अधिक ध्यान देना चाहिए। किसी के कुछ घमंड सा बन रहा हो, युक्तिपूर्वक बड़े सद्बचनों से समझाइये कि क्यों घमंड करता है, ऐसा परिणाम ही तुम क्या बनाते, मोक्षमार्ग में क्यों भ्रष्ट होते। उसे उस कषाय से हटाना, यही है सच्ची मित्रता, धर्मात्मावों का धर्मात्मावों के प्रति जो सम्बन्ध होता है वह सम्बन्ध कुटुम्ब से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। और, जिसे धर्म की सच्ची लगन है वह अपने तन, मन, धन, वचन सबका अधिक से अधिक प्रयोग धर्म की साधना में करेगा, कुटुम्ब के मोह में न करेगा। कर्तव्य वह भी है मगर उसमें सामर्थ्य है ऐसी कि किसी समय तन, मन, धन सब कुछ न्योछावर धर्म के लिए करना पड़े तो कर सकता है इतना उसके साहस है। तो ज्ञानार्जन का फल अपने आपके प्रभु के दर्शन करते रहना यह सब है, क्योंकि शान्ति और आनन्द इसी तत्त्व के दर्शन में हैं।

## श्लोक-350

एते पण्डितमानिनः शमदमस्वध्यायचिन्तायुताः, रागादिग्रहवञ्चिता यतिगुणप्रध्वंसकृष्णाननाः।  
व्याकृष्टा विषयैर्मदैः प्रमुदिता शङ्काभिरङ्गीकृता। न ध्यानं न विवेचनं न च तपः कर्तुं वराकाः  
क्षमः॥350॥

पण्डितमानियों के आशय की सविनाशकारिता— जो पंडितमानी हैं सही मायने में पंडित तो नहीं है, किन्तु अपने को पंडित समझते हैं और शम दम स्वाध्याय इनसे रहित हैं, किन्तु इनकी भी चिन्ता करते हैं। हमें स्वाध्याय करना पड़ रहा है; अब समझ आ गया, अब प्रवचन करना पड़ेगा तो ये तो उससे रहित हैं जो इनकी चिन्ता करें, पर उत्सुकता न जगे, सो शान्ति, इन्द्रियमन और ज्ञानार्जन के लिए तो उनसे रहित समझिये। और, भी बतावेंगे। ऐसा पुरुष न तो ध्यान कर सकता, न तप कर सकता। पंडित का अर्थ है— पंडां इतः इति पंडितः। जो उत्कृष्ट बुद्धि को प्राप्त कर लेवे उसे पंडित कहते हैं और, विद्वान का अर्थ है वेत्ति इति विद्वान, जो बहुत अधिक जानकारी रखे उसे विद्वान कहते हैं। विद्वान से पंडित का दर्जा ऊँचा है। पर लोक में जो रसोई बनाता है उसे भी पंडित कहते हैं तो जो पंडितमानी पुरुष है ज्ञानार्जन के यत्न से रहित हैं रागद्वेष मोह आदि पिशाचों के कारण जो संचित हैं वे ठगाये गये हैं, और, फिर अपने को साधु के भेष में रखकर लोगों के साथ जो दम्भ करते हैं, जिनमें मुनिपने के गुण नष्ट हो गये हैं और जो स्वयं अपना मुख काला करते हैं, कृष्णानन रहते हैं, घमंड में प्रसन्न रहते हैं, शंका संदेह, शल्य इनसे जो ग्रस्त रहते हैं ऐसे ये रंक पुरुष हैं, वे न ज्ञान में समर्थ हैं, न ध्यान में समर्थ हैं, न तप ही करने में समर्थ है।

आत्महित के उद्देश्य से ज्ञानार्जन में प्रगति करने का लाभ— इस अधिकार में ध्याता के गुण और दोषों का वर्णन किया है। गुण तो सबसे पहिले बताये गए थे कि मोक्ष की इच्छा हो, संसार, शरीर, भोगों से वैराग्य हो, शान्त चित्त हो, मन को वश रखने वाला हो, इन्द्रिय को जीतने वाला हो वही ध्याता प्रशंसनीय है, और जब ध्याता के दोष बताये तो प्रथम दोष तो गृहनिवास बताया, गृहनिवास में ध्यान की सिद्धि नहीं है इसके बाद फिर अन्य मंतव्य बताया, फिर मिथ्यादृष्टियों का वर्णन किया। जो संसार, शरीर, भोगों में ही अपनायत करते हैं वे मिथ्यादृष्टि भी ध्यान के पात्र नहीं। फिर पाखण्डियों को ध्यान के अयोग्य बताया, जो नाना भेष रखते हैं, जहाँ संयम नहीं है वहाँ विशुद्ध ज्ञान न होने के कारण वे भी ध्यान के पात्र नहीं है, और अन्त में बताया कि जो जैन के साधु कहकर आचार से भ्रष्ट हैं, जो साधुभेष रखकर केवल इसमें ही संतुष्ट हैं कि हमारी तो खूब आजीविका चल रही है, कहाँ कमाते, कष्ट करते, सब मुफ्त में ही काम हो रहा है, सेवा भक्ति भी हो रही है, इतने में ही जो सन्तुष्ट हैं और इतना ही नहीं, किन्तु मायाचार रखकर लोगों के साथ दम्भ भी रखते हैं, ऐसे साधुओं के भी ध्यान करने की योग्यता नहीं है। यह अधिकार पूर्ण हो रहा है। इससे हम यह शिक्षा लें

कि हम आत्महित की दृष्टि से ज्ञानार्जन करें और कुछ यह महसूस करें कि हम अन्य-अन्य बातों में कितना समय खोते हैं और ज्ञानार्जन के लिए हम कितना समय लगाते हैं? गृहस्थ भी चाहें तो वे भी 24 घंटे में करीब 2-3 घंटा समय ज्ञानार्जन के लिए निकाल सकते हैं। खूब सोच लीजिए, हम अपना कितना समय बैठने में, व्यर्थ की गप्पसप्प करने में लगाते हैं। ज्ञानार्जन करें और कषायों को मंद करें, इस ही उपाय से इस दुर्लभ नरजन्म को सफल करें, यह शिक्षा हमें लेना चाहिए।

**॥ज्ञानार्णव प्रवचन पञ्चम भाग समाप्त॥**